UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180384

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 M67 Accession No. H 2126

Author [illegible]

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य—संदर्भ और मूल्य

रामदरश मिश्र एम० ए०, पी० एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज,
अहमदाबाद

१९६१
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा—दिल्ली

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

आसफअली रोड	नई दिल्ली
फव्वारा	दिल्ली
माई हीरां गेट	जालन्धर
लाल बाग	लखनऊ

मूल्य ४·००

श्यामलाल गुप्ता, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं
हरबंसलाल गुप्त द्वारा इण्डिया प्रिंटर्स, दिल्ली में मुद्रित

ये निबन्ध

प्रस्तुत पुस्तक भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गये मेरे निबन्धों का संग्रह है। इनमें से कुछ विषय मैंने अपनी अन्तःप्रेरणा से लिये हैं, कुछ पत्र-पत्रिकाओं की प्रेरणा से। साहित्य का उचित मूल्यांकन सन्दर्भों की सम्यक् व्याख्या के बिना नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से इस संग्रह के निबन्धों के आलोच्य साहित्यकारों और प्रवृत्तियों का मूल्य आँकते समय उनसे सम्बद्ध सन्दर्भों का ध्यान अवश्य रखा गया है—कम से कम प्रयास तो यही किया गया है। कौन जाने ये आपकी दृष्टि में कैसे जँचे ?

पुस्तक में संगृहीत निबन्धों में 'गीत-खग विद्यापति' रेडियो वार्ता के रूप में आकाशवाणी अहमदाबाद से प्रसारित हो चुका है। केन्द्र के संचालक महोदय ने इसे प्रकाशित करने की अनुमति देकर जो सौजन्य दिखाया है उसके लिए मैं आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशक महोदय को भी मेरा हार्दिक धन्यवाद है, जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में पुस्तक को प्रकाशित करने की समुचित व्यवस्था की है।

सेंट जेवियर्स कालेज,
अहमदाबाद
३१-१-६१

—रामदरश मिश्र

विषय क्रम

विषय		पृष्ठ
१. गीत-खग विद्यापति	...	१
२. कबीर की कविता	...	८
३. साहित्य में यथार्थ और नैतिक मान	...	१७
४. प्रकृति-चित्रण और काव्य	...	२४
५. प्रगतिवाद और उसके प्रमुख कवि	...	३०
६. हिन्दी लोक-गीतों में सामाजिक जीवन	...	४४
७. हिन्दी-साहित्य में हास्य-व्यंग्य	...	५३
८. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता	...	६३
९. कविता और प्रचार	...	७८
१०. नयी कविता और गीत काव्य	...	८८
११. कामायनी में सौन्दर्य निरूपण	...	९३
१२. आधुनिक हिन्दी कविता में वसन्त	...	१०१
१३. हिन्दी-ऐतिहासिक उपन्यासकार—वृन्दावनलाल वर्मा	...	११३
१४. वीर रस नये सन्दर्भ में	...	११९
१५. गीतिकाव्य और लोकजीवन	...	१२४
१६. नयी कविता—एक वक्तव्य	...	१३४
१७. उत्तरदायित्वहीन आलोचना	...	१३९
१८. राष्ट्रीय काव्य	...	१४४

सरस्वती को

: १ :

गीत-खग विद्यापति

कवि विद्यापति शैव थे या वैष्णव, उनकी शृंगारिक कविताएँ लौकिक हैं या भक्तिपरक ? इन विवादों में उलझे रहने से कवि के काव्यत्व के उचित मूल्यांकन का अवकाश कम रह जाता है। विद्यापति जैसे रस-मग्न कवि की काव्यात्मक उपलब्धियों को शास्त्रीय रूढ़ दृष्टि से भी नहीं देखा जा सकता। अलंकार और रीति के बँधे बँधाये खाने में खतिया देने से गीतात्मक सहजता के प्रति न्याय होना संभव नहीं। अतः आइए हम विद्यापति को एक सहज रस-मग्न गीत-कवि के रूप में देखें।

विद्यापति ने अवहट्ट भाषा में कीर्तिलता प्रबन्ध काव्य की रचना की। उक्त काव्य में प्रबन्ध काव्य की विशेषताओं का उचित निर्वाह किया गया किन्तु उनके पद उनके रस मग्न हृदय के सहज उद्‌गार हैं इसीलिए कवि ने इन्हें शास्त्रीय भाषा में न गाकर तत्कालीन जन जीवन में प्रवाहित मैथिल भाषा की कोमलकान्त पदावलियों के माध्यम से गाया और लोक-जीवन की रसात्मक प्रतीतियों को मुखर करने के लिए लोक-चित्र, लोक-प्रतीक और लोक-छन्दों को ही ग्रहण किया।

'विद्यापति मैथिल-कोकिल हैं।' मेरी समझ से यह उक्ति विद्यापति के पदों की सर्वोत्तम आलोचना है। वसन्त की कोमल पगध्वनि के साथ ही आम्र कुन्जों की गन्ध-गर्भा छाँहों में छिपकर कोकिल पंचम स्वर में अपना रसमय हृदय उड़ेलने लगता है। वन-वन, बाग-बाग, तरु-तरु और डाल-डाल पर उड़कर, कलियों, लाल-लाल दहकते हुए पलाशों, आदिगन्त जवानी में झूमते हुए खेतों और मस्ती में शराबोर गाँवों के समस्त सौन्दर्य और उल्लास को मुखर करने लगता है। वसन्त बीत जाता है और तब ज्वाला की सुनसान चट्टानों में कहीं दबकर बहुत हौले-हौले थके, प्यासे स्वरों में कोकिल कराह उठता है।

जवानी भी तो वसन्त ही है। कोकिल कवि विद्यापति ने इसी जवानी की अनेक अवस्थाओं, प्रेम की मस्ती, विरह के तीखे दर्द और सौन्दर्य-भंगी को

अत्यन्त कोमल स्वरों में गाया है। उन स्वरों में न तो समाज के शिशिर की दीनता-जर्जर थरथराहट है, न पतझर की उदास नग्नताएँ हैं, न ग्रीष्म का विशद हाहाकार, न पावस की हरीतिमा और फेनोज्वल बाढ़ का भयानक गर्जन है, न शरद के खेतों की अंकुरित जीवन-सृष्टि है। समाज के विभिन्न स्तरों के दुःखों-दर्दों का स्पर्श विद्यापति-पदावली में नहीं हैं। बुढ़ापे के साथ कोकिल कवि का स्वर मस्ती से उतर कर प्रार्थना मूलक हो गया है और वह कराह उठा है—

"तातल-सैकत-वारि बिन्दु सम,
सुत - मित - रमनि - समाज,
तोहे बिसार मन ताहे समरपिन,
अब मझु हब कोन काज,
माधव, हम परिनाम निरासा।"

कवि का क्षेत्र सीमित है किन्तु उस क्षेत्र में प्रस्फुटित होने वाले राग-बोध, सौन्दर्य-बोध और अनेक सुन्दर प्रसंगों से कवि का गहरा परिचय है। कवि सौन्दर्य और प्रेम की मस्ती को बिना किसी संकोच के, बिना किसी बनावट के, लहरा देता है। विद्यापति के कृष्ण और राधा की केलि को कान्ता भाव की भक्ति स्वीकार करने वाले भले ही इष्टदेव और इष्टदेवी कृष्ण और राधिका का आध्यात्मिक विलास मानें, किन्तु कवि ने उन्हें ऐसा चित्रित किया है कि वे लोक-सामान्य नायक और नायिका के रूप में मांसल शृंगारिकता के विभिन्न स्तरों को स्पर्श करते हुए ही अधिक प्रतीत होते हैं। कवि द्वारा चित्रित शृंगारिक जीवन के विभिन्न आयाम हैं—वयः संधि, नख-शिख, सद्यः—स्नाता, प्रेमप्रसंग, दूती, नोंक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी-संभाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मान-भंग, विदग्ध-विलास, विरह और भावोल्लास। इन विभिन्न शृंगारिक प्रसंगों में कवि रूप-सौन्दर्य पर ही अधिक अटका हुआ जान पड़ता है। वयः संधि की अवस्था में नारी के अंगों में कैसे एक मांसल सौन्दर्य निखर उठता है, उसकी चेष्टाओं और भंगिमाओं में कैसे एक नवीन मोहकता महक उठती है इन सबका बड़ा ही सजीव चित्र पदावली में उपलब्ध है किन्तु इस अवस्था में अन्तर में उगने वाले स्वप्निल भावों की व्यंजना बहुत कम है।

इसी प्रकार अन्य शृंगारिक प्रसंगों में भी कवि की दृष्टि वाह्य रूप-वैभव—शारीरिक सुगढ़ता, लावण्य, मादक हावों, अनुभावों, व्यापारों और अलंकार-विन्यासों—की ओर अधिक रही है और हृदय के भीतर मंथन करने वाले विभिन्न संवेगों और अन्तर्द्वन्द्वों के निरूपण की ओर कम। फिर भी विद्यापति रूप-योजना के कुशलतम शिल्पी हैं।

"शैशव जौवन दरसन भेल,
दुहु दल-बले दन्द परि गेल,
कबहु बाँधय कच, कबहु बिथारि,
कबहु झाँपय अँग कबहु उघारि,
अति थिर नयन, अथिर कुछ भेल,
उरज - उदय - थल लालिम देल,
चंचल चरन, चित चंचल मान,
जागल मनसिज मुदित नयान,
विद्यापति कह सुन वर कान,
धैरज धरह मिलायब आन।"

(वयः संधि)

या

"कामिनि करए सनाने,
हेरतहि हृदय हनए पँचबाने,
चिकुर गरए जल-धारा,
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।"

कवि की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य को भी उसके आन्तरिक उल्लास में नहीं देख सकी। वसन्त कवि का बहुत प्रसिद्ध प्रकृति-चित्रण है। किन्तु कवि ने कुछ तो परिपाटीबद्ध ढंग से वसन्त के पूर्व गृहीत उपकरणों को सजा दिया है और कुछ तो अलंकारों के घटाटोप में वसन्त-श्री को आवृत कर दिया है। अलंकारों की चमक-दमक ने वसन्त के सहज सौन्दर्य को प्रवाहित होने नहीं दिया है।

लेकिन पदावली में ऐसे अनेक स्थल भी आते हैं जो यह सूचित करते हैं कि कवि में हार्दिकता की कमी नहीं है। जहाँ कवि इन जगमग सौन्दर्य-जालों को भेदकर अन्तर की गहराई में पैठ गया है वहाँ उसने हृदय की मार्मिक

छवियों की राशि सामने लाकर बिखेर दी है। विरह की अवस्था में जो आन्तरिक पीड़ा का प्रवाह उमड़ता है उसे कवि ने बड़ी गहराई से पहचाना है। विरह की अवस्था में विद्यापति की राधा को मौत चश्मा लगाकर नहीं खोजती, उनके शरीर को छूकर माघ मास की ठंडी हवा लू नहीं बन जाती, उनकी जान खून का क़तरा बनकर आँसुओं के वास्ते नहीं ढल जाती, वरन् वे अपनी गम्भीर मर्म वेदना को बड़े ही सहज रूप में सखियों से कह उठती हैं :—

"हे सखि कतहुँ न देखि मधाई,
काँप शरीर थीर नहिं मानस,
अवधि नियर भेल आई,

या

लोचन धाए फेधायल,
हरि नहिं आयल रे,

या

इभर बादर माह भादर,
सून मन्दिर मोर,
झंपि घन गरजंति संतत,
भुवन भरि बरसंतिया,
कन्त पाहुन, काम दारुन,
सघन खर सर हंतिया,

या

के पतिया लेइ जाइत रे,
मोरा पियतम पास।"

विरह की गम्भीर मानसिक यातनाए सहती हुई राधा का प्रियतम नहीं आया, नहीं आया। फिर आशाएँ स्वप्न बनकर मुखर होने लगीं :—

"सुतलि छलहु हम घरवा रे,
गरवाँ मोतिहार,
राति जखन भिनसखा रे,
पिया आएल हमार।"

किन्तु स्वप्न भिनसार का था इसलिए लगता है प्रियतम जरूर आयेंगे।

लो शकुन सूचक कागा भी बोलने लगा—

"मोरा रे अँगनवा चनन केरि गछिया,
ताहि चढ़ि कुरुरय काग रे।"

विरह के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर कहीं-कहीं गंभीर संवेदना और अनुभावों के दर्शन हो जाते हैं जैसे मिलन में—

"सुन्दरि चललिहु पहु घरना,
चहुँ दिश सखि सब कर धरना,
जाइतहु लाग परम डर ना,
जइसे ससि कांप राहु डर ना।"

प्रार्थना और नचारी में बौड़म शंकर के हाथ में सौंपी जाती हुई पार्वती की माँ का मातृ-हृदय देखने लायक है। माता मात्र की सहज पीड़ा उसमें ध्वनित हो उठी है :

"हम नहिं आज रहब एहि आँगन,
जो बुढ़ होएत जमाई गे माई,
एक त बइरि भेल बीध बिधाता,
दोसर धिया कर बाप।
तेसरे बइरि भेल नारद बाभन,
जे बूढ़ आनल जमाई गे माई,
पहिलुक बाजन डामरु तोरब,
दोसरे तोरब रुँड माल,
बरद हाँकि बरियात बेलाइब,
धिआ ले जाएब पराई गे माई।"

इस एक पद में माता के हृदय के न जाने कितने उद्‌गार एक साथ फूट उठे हैं। बेबसी, ब्रह्मा की क्रूरता, लड़की के बाप की निष्ठुरता, नारद वाभन का षड़यन्त्र, नालायक दूल्हे के प्रति आक्रोश, नारद के प्रति दंड की भावना और बेटी को लेकर कहीं और भाग जाने की लाचार तड़प, ये अनेक परस्पर गुंफित भाव माता के दिल को एक साथ झकझोर उठे हैं।

लड़कियों का पराए हाथों में सौंपा जाना समाज का एक नैसर्गिक नियम बन गया है। जिन देशों में नारी-पुरुषों के सम्बन्धों में स्वच्छन्दता है, जहाँ दोनों

में बराबरी का भाव है वहाँ तो यह परायापन उतना नहीं खलता किन्तु भारत में तो सामाजिक दबाव के बहुत प्रबल होने के कारण शुरू से ही यह परायापन लड़कियों के लिए बहुत बोझिल-सा रहा है। एक ओर पति के पाने का मधुर उल्लास होता है तो दूसरी ओर पति के घर की अनजान अवस्था, घर के लोगों के अनजान व्यवहार की एक अस्पष्ट-सी तसवीर प्राणों में डर भर देती है। माँ नारी होने की वजह से इस पराये घर के दर्द की सबसे बड़ी भुक्त-भोगी होती है। इसीलिए वह अपनी बेटी के प्रति बड़ी स्नेहशीला और सहानुभूतिमयी होती है। वह चाहती है कि उसकी बेटी का पति सुन्दर हो, सुशील हो, धनी हो, परिवार भरा-पूरा हो। बेटी के दुःख की आशंका मात्र से उसका हृदय थर्रा उठता है। शंकर के दारिद्रय की कल्पना कर पार्वती की माँ के हृदय की कैसी दशा हो गई है, देखिए—

"एत जप तप हम किय लागि कँलहु,
कथिला कएलि नित दान,
हमरि धिया के एहो बर होयता,
अब नहिं रहत परान,
हर के माय बाप नहिं थिकइन,
नाहिं छइन सोदर भाय,
मोर धिया जो सासुर जेती,
बइसति ककर लग जाय,
घास काटि लौती, बसहा चरौती,
कुटती भाँग धतूर,
एको पल गौरी बैसहु न पौती,
रहती ठाढ़ि हजूर।"

प्रार्थना के पदों में कवि ने शंकर, कृष्ण, गंगा, सीता, दुर्गा आदि अनेक देवताओं की स्तुति की है किन्तु प्रार्थना सम्बन्धी अनेक पद उक्त देवताओं की सुनी सुनाई गुण-गाथा की ही चर्चा करते हैं। इस दृष्टि से इनमें कवि का कोई अपनापन नहीं मुखर हो सका है। यह जरूर है कि कवि के छन्द और पद-विन्यास पिष्ट-पेषित भावों वाले पदों में भी एक लयात्मक भंगिमा भर देते हैं किन्तु कुछ पद ऐसे अवश्य हैं जिनमें कवि का निजीपन और रागात्मकता मुखर हो उठे हैं—

"कखन हरब दुःख मोर हे भोलानाथ,
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब,
सुख सपनहुँ नहिं भेल हे भोलानाथ,
या माधव हम परिनाम निरासा,
तुहुँ जग तारन दीन दयामय,
अतय तोहार विसवासा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने कहीं तो प्रच्छन्न शास्त्रीय परिपाटी और रूढ़ियों के साथ गाँवों के नायक-नायिकाओं के शृंगारिक केलि-कलापों को संपृक्त कर दिया है और कहीं शास्त्रीय रूढ़ियों को एक दम छोड़कर जन-जीवन के सहज शृंगारिक प्रसंगों के साथ शुद्ध और उन्मुक्त हार्दिक उद्‌गारों को प्रवाहित कर दिया है। कवि ने चाहे रूप-विधान किया हो, चाहे भाव विधान, उसके पद सर्वत्र गीतात्मक छवियों से भरपूर हैं। लोक प्रसंगों, लोक भाषा और लोक छन्दों के ग्रहण की वजह से पदावली के पद अपनी रसमयता में तीव्र हो उठे हैं और वे या तो आँखों में एक सौन्दर्य चित्र उतार देते हैं या हृदय में एक रस की धारा प्रवाहित कर देते हैं। विद्यापति ने अनेक लोक छन्दों का प्रयोग उनकी प्रकृति के अनुकूल किया है। विद्यापति शब्द-चयन में अत्यन्त कुशल है। कहाँ किस प्रकार के शब्दों और ध्वनियों का चयन वांछित है, किन-किन पदों में मैत्री है इन सब का बोध कवि को खूब है। कहीं-कहीं कवि शब्दों और स्वरों की ध्वन्यात्मकता से ही संगीत की सृष्टि कर देता है। कहीं-कहीं छोटी-बड़ी पंक्तियों की योजना करके भावों को आवश्यकतानुसार स्फीत और संकुचित कर देता है।

कुल मिलाकर विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं। पदावली गार्हस्थ्य-रस से ओत-प्रोत है। कवि का सौन्दर्य-बोध इतना जाग्रत है कि वह कभी भी सौन्दर्य से तृप्त नहीं होता। कवि मानो अपनी नायिका के साथ स्वयं ही तड़प उठता है—

"जनम अवधि हम रूप निहारल,
नयन न तिरपित भेल।"

: २ :

कबीर की कविता

पण्डितों ने कविता में दो पक्ष माने हैं—अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष। कवि अपनी अनुभूति को पाठकों के हृदय में उतारना चाहता है। इसलिए उसे अभिव्यक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। वह अपनी अनुभूति अधिकाधिक सफलता से औरों तक प्रेषित कर सके, इसके लिये वह कलात्मक अभिव्यक्ति की साधना करता है। अर्थात् शक्तिशाली भाषा और शैली का अभ्यास करता है। जो भी हो यह अभिव्यक्ति की साधना अनुभूति को प्रेषित करने का एक माध्यम-मात्र है। किन्तु अनुभूति क्या वस्तु है ? कवि एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज की जीवन्त परम्पराओं, वर्तमान समस्याओं, आकांक्षाओं, संघर्षों, प्रगतियों और समूची स्थूल और सूक्ष्म सौन्दर्य-उपलब्धियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। कवि तो सामान्य सामाजिक से कुछ अधिक भावुक और ग्रहणशील होता है। वह इन्हें सहज ही जान-पहचान लेता है। जिस कवि में उपर्युक्त प्रभाव का अभाव दिखाई पड़े उसके कवित्व में सन्देह होना चाहिए। कवि की अनुभूति अनेक सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों से बनती है, और उसी अनुभूति को कवि व्यक्त करता है।

प्रश्न होता है कि क्या अनुभूति साध्य है और अभिव्यक्ति साधन ? मैं दोनों को साधन मानता हूँ। साध्य है मानव-समाज का सामूहिक उत्कर्ष। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सारे ज्ञान-विज्ञान का एकमात्र लक्ष्य मनुष्य मानते हैं। जब अनुभूति साधन है और मानव समाज का सामूहिक उत्कर्ष साध्य है तो इन दोनों के बीच एक और तत्त्व की आवश्यकता उत्पन्न होती है। और वह तत्त्व है दृष्टिकोण। संसार की तमाम बिखरी हुई वस्तुओं, घटना-प्रवाहों, विश्वासों, विचार धाराओं में से कौन उस काल की मानवता की भूख को तृप्त करने वाली है, कौन समाज की खण्डित इकाइयों को एकता के सूत्र में बाँधने वाली है और कौन मानवता को क्षुद्र स्वार्थों से खण्डित करने वाली है, कौन जीवंत-विश्वासों से समाज को जागरूक कर सकती है, कौन पुरानी मुर्दा रूढ़ियों के अन्धकार में

समाज को गहरी नींद लेने के लिये फेंक सकती है, इसका निर्णय परिमार्जित दृष्टिकोण करता है। यह दृष्टिकोण युगानुरूप नवीन और ताजा हुआ करता है। यदि दृष्टिकोण धूमिल और प्रतिक्रियावादी हुआ तो कवि की अनुभूतियाँ भी कुछ उसी प्रकार की बनेंगी और कवि उनका चयन भी इस प्रकार करेगा कि उनका प्रभाव पाठकों पर तदनुरूप पड़े। लेकिन परिमार्जित और मानवतावादी दृष्टिकोण वाले कवि के हृदय में संसार की समस्त क्रियाओं की प्रतिक्रियाएँ कुछ भिन्न ढंग की अनुभूतियों की सृष्टि करती हैं और वह कवि संसार की घटनाओं का चयन इस सृष्टि से करता है कि सर्वत्र उसका विश्वास ध्वनित हो। ऐसे कवियों का व्यक्तित्व खण्डित नहीं होता, उनके दृष्टिकोण (दर्शन या विश्वास भी कह सकते हैं), अनुभूति और अभिव्यक्ति में बड़ी एकमयता होती है।

हिन्दी के भक्तिकालीन आन्दोलन की मौलिक शक्तियों की परीक्षा करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि उस काल के सभी कवियों में मानवता के उत्कर्ष की तीव्र आकांक्षा थी। भगवत्-भक्ति उनका परमसाध्य था। राम या कृष्ण इस काल के चरमसत्य थे, जिनके प्रति भक्तों का व्यक्तित्व न्योछावर है। मानवता के चरम सत्य भगवान के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप से अर्पित कर देना ही तत्कालीन भक्तों का इष्ट था। उनकी अनुभूतियाँ भगवद् रस से तरलायित हैं। सभी उस अखण्ड सत्य के अंश हैं। अतएव संसार में मौलिक एकता है। संसार को खण्डों में बाँटने वाले भ्रम में हैं, मूढ़ हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उस काल के भक्त कविता के लिए कविता नहीं लिखते थे। वे अपने चरम सत्य और उसकी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए कविता लिखते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है, "सूरदास के बाल वर्णन में स्वभावोक्ति की छटा-मात्र देखने वाले घाटे में रहेंगे। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी है, न अलंकार की और न भावों की, न भाषा की। इसका कारण यशोदा का निखिलानन्द सन्दोह भगवान बालकृष्ण के प्रति एकांत आत्मसमर्पण है।" इसी प्रकार तुलसी में भक्ति की तन्मयता है और कहीं-कहीं वे कथा का प्रवाह रोक कर अपनी भक्ति की याद दिला उठते हैं।

कबीर की कविता की व्याख्या करने के लिए हमने उचित पृष्ठभूमि की सृष्टि कर ली है। कबीर सच्चे तन्मय भक्त थे अतएव उनकी रचनाओं में भक्ति

का प्रवाह तो है ही, अन्य प्रकार की भावभूमियाँ भी हैं। लेकिन वे सभी भाव भूमियाँ किसी-न-किसी प्रकार से भक्ति के ही अंग बन कर आई हैं। मोटे तौर पर कबीर की रचना के अनुभूति पक्ष को दो भागों में बाँट सकते है: (१) भगवत्-भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ, (२) उपदेश सम्बन्धी रचनाएँ। दोनों का विवेचन हम बाद में करेंगे। पहले हम कबीर की कविता के सम्बन्ध में उठाये गये विवादों को समझ लें।

आचार्य शुक्ल ने ऐसे तो स्पष्ट स्वीकार नहीं किया कि कबीर कवि नहीं थे किन्तु जायसी आदि कवियों की चर्चा के प्रसंगों में उन्होने जो कबीर के सम्बन्ध में लिखा है उससे ज्ञात होता है कि कबीर को अच्छे कवि के रूप में वे स्वीकार नहीं करते। वे निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के भक्तों की रचनाओं को साहित्यिक नहीं मानते। तथापि वहाँ कबीर को वे और सबसे अलग कर देते हैं, किन्तु साहित्यिकता की दृष्टि से नहीं; ज्ञान-अनुभूति की दृष्टि से। फिर भी शुक्ल जी कबीर की प्रतिभा और उनकी विलक्षण उक्तियों के चमत्कार को स्वीकार करते हैं। बाद में शुक्ल जी की परम्परा को ढोने की घोषणा करने वालों ने कबीर को कवि रूप में एकदम अस्वीकार कर दिया। इसके तीन कारण हैं: (१) कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और निर्गुण निराकार ब्रह्म चिन्तन का विषय हो सकता है भक्ति (राग) का नहीं (शुक्ल जी इस विचार के प्रवर्तक हैं)। (२) कबीर ने ज्ञान की बातें कहीं हैं, खरे-खोटे उपदेश सुनाये हैं, उनके कथनों में रागात्मक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। (३) कबीर ने जो कुछ कहा है वह ऊट-पटांग अपरिमार्जित और झाड़-फटकार की शैली में; उलटबांसियों की शैली निश्चय ही कवि की शैली नहीं है।

कबीर के काव्य-पक्ष पर लगाये गए इन आरोपों की परीक्षा करें तो निश्चय ही हमें इन आरोपों के थोथेपन और पूर्वग्रहों का पता चल जायेगा। हम कबीर के अनुभूति-पक्ष पर पहले विचार करेंगे। ऊपर मैंने यह स्पष्ट किया है कि कबीर के अनुभूति-पक्ष के दो भाग हैं—(१) भगवत् भक्ति। (२) उपदेश। भगवत्-भक्ति में कबीर ने तन्मय होकर राम की उपासना की है। ये रचनाएँ प्रायः पदों में है। उनकी उपदेशात्मक रचनाएँ प्रायः दोहों में है। उन दोहों में हिन्दू-मुस्लिम एकता, उन दोनों को झाड़-फटकार, अनेक वाह्याडंबरों की कटु आलोचना, संसार के मिथ्या रूप की नश्वरता, प्रेम की महिमा, सत्गुरु की स्तुति

आदि सम्बन्धी अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हैं। यदि हम गहराई से देखें तो इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों को एक ही अखण्ड अनुभूति के दो पक्ष कह सकते हैं। राम चरम-सत्य हैं। वे भेद-भाव के, जाति-पाँति के, ऊँच-नीच के बन्धनों में नहीं बँध सकते। इसलिए कबीर इन वाह्याचरणवादियों को सदैव एक झटका देते हैं, किन्तु यह झटका कभी ऊपर से नहीं निकलता। अर्थात् वे पढ़-पढ़ा कर, सुन-सुनाकर दिमाग़ से सोच-साच कर यह उपदेश या झाड़-फटकार नहीं देते। बल्कि यह सारी खीझ, ये एकता सम्बन्धी उक्तियाँ उनकी अनुभूति से पैदा होती है। कबीर पडित तो थे ही नहीं और किसी सम्प्रदाय का अधानुकरण भी नहीं किया बल्कि सबके तत्त्वों को अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा और तीखी अनुभूति के बल पर अपना बना डाला। अतएव हम कह सकते हैं कि ये सारे उपदेशात्मक स्वर उनके बौद्धिक व्यायाम के फल नहीं बल्कि उनकी अंतरात्मा की पुकार थे। और भक्तों में और कबीर में एक अन्तर यह भी था कि और भक्त (राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखा के भक्त) प्रायः अभिजात वर्ग से आये थे, किन्तु कबीर दलित उपेक्षित और सताए हुए वर्ग से आये थे और समाज की भेद-भाव जन्य उपेक्षा को उन्होंने स्वयं भोगा था। इसलिए इन्होंने आभिजात्य बड़प्पन के मिथ्या दंभों और छोटी जातियों पर अत्याचार करने वाले सामाजिक संस्कारों, पुस्तकीय ज्ञानों को बड़े तीखे और सीधे अनुभूति-जन्य स्वरों में झटके मारे हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों को चिढ़ाया है। किन्तु यह भ्रामक मत है। कबीर ने ये सारी बातें चरम-सत्य की अखण्डता और एकता की ओर संकेत करने के लिए कही हैं। हम कह सकते हैं कि कबीर का वक्तव्य-पक्ष बहुत उच्चकोटि का और लोक-मंगलकारी है।

लेकिन क्या सारी अनुभूतियाँ कविता होती हैं? निश्चय ही अनुभूतियों को कविता का स्वरूप धारण करने के लिये सामाजिक रागात्मकता की आवश्यकता होती है। किसी अनुभूति को सूखे ढंग से कह देने से कविता नहीं बनती और न व्यक्तिगत अनुभूति को व्यक्त कर देना ही काव्य का जनक होता है। अर्थात् अनुभूतियों को पाठक पर सीधे-सीधे वाच्यार्थों में न फेक कर ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता, और सरसता से उतारना चाहिए। और दूसरी बात यह कि कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को लोक-जीवन के मार्मिक प्रतीकों और रागात्मक

सम्बन्धों द्वारा ऐसा व्यक्त करे कि उसकी अपनी अनुभूति सबकी प्रतीत होने लगे। निश्चय ही कबीर की रचनाओं में ऐसी बहुत हैं जिनमें कबीर की अनुभूतियाँ रूखे-सूखे ढंग से वाच्यार्थों में व्यक्त हुई हैं। अर्थात् सीधे-सीधे उपदेश हैं, कान्तासम्मित उपदेश नहीं। और वे उपदेश सामाजिक रागात्मकता को प्रभावित कर सकने में असमर्थ हैं। उनमें काव्योचित चित्रात्मकता, प्रतीकविधान और ध्वन्यात्मकता नहीं हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी वे पाठकों को प्रभावित करती हैं क्योंकि उनमें अनुभूति की सच्चाई और तीव्रता होती है। शुद्ध काव्य की दृष्टि से उन्हें यदि आप कविता न मानें तो कोई आपत्ति की बात नहीं।

किन्तु इन दोहों, साखियों में से बहुतेरे ऐसे भी हैं जिनमें कबीर ने व्यंग्य और अन्योक्ति पद्धति का सहारा लिया है और कुछ में प्रेम और ज्ञान की मर्मातक पीड़ा का बड़ा ही प्रभावशाली चित्र खींचा है। व्यंग्य और अन्योक्ति को काव्य की एक उत्तम विधि स्वीकार किया गया है। अतएव निस्सन्देह रूप से इन्हें हम काव्य कहेंगे। जैसे—

"कांकर पाथर जोरि के मसजिद लियो बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥"

*

"बाढ़ी आवत देखि के तरुवर डोलन लाग।
हमें कटे को गम नहीं पंखेरू घर भाग॥
मालि आवत देखि के कलियां करें पुकार।
फूला फूला चुन लिया कालि हमारी बारि॥"

*

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूंमत रहै, नाहीं तन की सार॥
पिंजर प्रेम प्रकासिया अन्तरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बांणी फूटी बास॥
सतगुरु सांचा सूरिमां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड़या कलेजे छेक॥

उपर्युक्त उदाहरणों में व्यंग्य और अन्योक्ति के उदाहरणों के अतिरिक्त प्रेम की पीर और ज्ञान के प्रकाश का बड़ा ही चित्रात्मक और तन्मयतापूर्ण चित्रण

है। कबीर-साहित्य में ऐसे दोहे बहुत मिलेंगे। मैं नहीं कहता कि सभी इसी कोटि के हैं; निश्चय ही कबीर की उलटबाँसियाँ नाथपंथियों के हठयोग के प्रतीकों को लेकर रची गई। रहस्यात्मक रूपक और कुछ रूखे उपदेश कविता की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकते। लेकिन उलटबाँसियों या नीति सम्बन्धी दोहों के दोषी कबीर मात्र नहीं हैं। उलटबाँसियों की भी परम्परा है और सूरदास आदि जैसे रस-मग्न कवि भी उनसे (दृष्टकूटों से) नहीं बच सके। जहाँ तक शुद्ध नीति के दोहों का सम्बन्ध है सभी भक्त कुछ-न-कुछ उसके दोषी हैं। यहाँ तक कि कविता के लिये कविता लिखने वाले बिहारी आदि शृंगारी कवि भी उससे नहीं बच सके हैं। तो भी कबीर के इन दोहों को शुद्ध काव्य की दृष्टि से हमें अलग करना ही पड़ेगा।

किन्तु कबीर की कविता की गरिमा दिखाई पड़ती है उनके भक्ति-सम्बन्धी पदों में। कबीर की निर्गुण-उपासना में ही सन्देह करने वालों को यह जानना चाहिए कि सात्विक रूप से 'राम' को निर्गुण, निरुपाधि, अगुण-सगुण के बंधनों से परे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त मानते हुए भी उपासना के क्षेत्र में कबीर उनसे अपना एक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यह सम्बन्ध सगुण मतावलम्बियों की तरह राम को किसी रूप, देश-काल और कर्म के बंधन में नहीं बाँधता। यह सम्बन्ध है पति पत्नी का—कबीर की आत्मा अपने को परमात्मा की पत्नी मानती है, और इस प्रकार कान्ताभाव से भक्ति करती है। इन भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में कबीर की कविता का यह स्वरूप दर्शनीय है। ऐसा क्यों हुआ? इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए।

आचार्य शुक्ल जी ने बिम्बग्रहण को ही काव्य के लिये समीचीन माना है। बिम्बग्रहण भी किसका? सामाजिक के हृदय को प्रभावित करने वाले जीवन के मार्मिक स्थलों और मनोभावों का। कवि अपना वक्तव्य हमारे रागात्मक हृदय को प्रभावित करने वाले लोक-चित्रों के माध्यम से जब ध्वनित करता है तभी उच्चकोटि की कविता बन पाती है। सीधे-सीधे यदि वह ज्ञान या भक्ति का उपदेश देगा तो धर्मशास्त्रों की आज्ञा और कविता में अंतर ही क्या रहेगा? कबीर की भक्ति सम्बन्धी कविताएँ भक्त के कांताभाव की मधुरता से सिक्त हैं। एक तो दाम्पत्य सम्बन्ध मानव जीवन का यों ही बड़ा राग-रंजित और व्यापक प्रभाव-सम्पन्न मार्मिक पक्ष है, दूसरे कबीर की प्रगाढ़ भक्तानुभूति की

तीव्रता उसमें मिल गई हैं। कबीर की विरहिणी आत्मा प्रियतम से मिलने के लिये बिसूरती है, अथाह वेदना का अनुभव करती हुई भटकती है। कभी प्रियतम से संयोग-सुख प्राप्त करती है और कभी-कभी प्रियतम के सुन्दर देश के आनन्द की कल्पना करती है। तीसरी बात यह है कि कबीर ने अपना कथन दाम्पत्य जीवन के विविध आकर्षक चित्रों और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। इन सभी संयोगों से कबीर की कांताभाव सम्बन्धी भक्ति-कविताएँ बहुत ही रसमय हो उठी हैं और इस रसमयता के प्रभाव में भाषा का अनगढ़-पन भी शृंगार बन गया है। कबीर की इन्हीं कविताओं ने रवीन्द्र नाथ ठाकुर जैसे महाकवियों को अपने रस में तन्मय किया है। इन कविताओं में अभिव्यक्ति अनुभूति के पीछे-पीछे दौड़ती नज़र आती है और अनुभूति की अजस्र धाराएँ मार्ग में पड़ने वाले अनेक रागात्मक कूलों और उपकूलों को भी सींचती हुई निखिलानंद सन्दोह चरम-सत्य प्रियतम के रूपसागर में विलीन होने के लिये अनुधावित है। शुरू-शुरू में मैंने जो कलात्मक अभिव्यक्ति, रागात्मक अनुभूति और मानवतावादी दृष्टिकोण के तादात्म्य की बात कही है वह यहाँ दिखाई पड़ती है।

कुररी पक्षी न जाने किसके बिछोह में आकाश में गरज-गरज कर ताल भर दे रहा है, लेकिन जिनसे गोविन्द बिछुड़ गया हो उनका क्या हाल होगा ? बताओ तो—

"अम्बर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पैं गोविन्द बीछुटे तिनके कौण हवाल॥"

विरहिणी बहुत दिनों से राम की बाट जोह रही है। मिलन के लिए जी तरस रहा है। मन में शांति नहीं है—

"बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं मन नाहीं बिसराम॥"

आँखों से निर्झर बह रहे हैं, दिन-रात रहट चल रहे हैं, विरहिणी आत्मा पपीहे की तरह 'पी पी' पुकार रही है। हे राम कब मिलोगे ?—

"नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपिहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम॥"

पथ निहारते-निहारते आँखों में झाईं पड़ गई है। राम पुकारते-पुकारते जीभ में

छाले पड़ गये हैं। हाय कैसी बेकली है !—

"अंषड़ियाँ झाँई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या राम पुकारि पुकारि॥"

आँखें प्रेम से काषायित हो गई हैं। लोग उन्हें दुखित समझते हैं। अरे वे तो अपने साई के कारण रो-रो कर लाल हो गई हैं—

"अँषड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणै दुखड़ियाँ।
साईं अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ॥"

वहाँ प्रियतम के देश में दिन-रात मोती बरस रहे है। मुरली शब्द मुखरित हो रहा है। दिन-रात ज्योति बरस रही है। मन मुरली-शब्द सुन कर आनन्दित हो रहा है—

"मोतिया बरसै तोरे देसवाँ दिन राती।
मुरली शब्द सुनि मन आनन्द भयो, जोति बरै दिनराती।"

इसीलिए नैहर से मन उचट रहा है—

"नैहरवा हमकौ नहिं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ चोर यार न आवै।
चाँद सुरुज, जहँ पवन न पानी, को सन्देश पहुँचावै ?
दरद यह साईं को सुनावै॥"

इसलिए वह स्वयं अपने दर्द की दूतिका बनकर घर से निकल पड़ती है—

"भीजै चुनरिया प्रेमरस बूंदन।
आरती साज कै चली है सुहागिनि,
प्रिय अपने को ढूंढ़न।"

और अंत में उसकी आँखें अलसा रही हैं। वह प्रियतम को सेज पर ले जाने के लिये बेचैन हो उठती है—

"ए अँखियाँ अलस्यानी, पिया हो सेज चलो।"

अभी हमने कबीर की रसमय कविता की कुछ बानगी देखी है। ऐसी बहुत सी कविताएँ कबीर-साहित्य में भरी पड़ी हैं जिनमें लोक-प्रतीकों के माध्यम से हमारी रागात्मक अनुभूतियों को जगाते हुए कवि ने भगवत्-भक्ति का सरस अवाह बहाया है। अपढ़ कबीर की भाषा भले ही खिचड़ी हो, पदावलियाँ भले

हों अपरिमार्जित हों, छन्द भले ही टूटे-फूटे हों, किन्तु अनुभूति-प्रवीण कबीर का वेगवान वक्तव्य जिधर से फूटता है अपना अनगढ़ मार्ग बना लेता है। वह अभिव्यक्ति का मार्ग अपरिमार्जित होकर भी अनुभूति को व्यक्त करने की भरपूर सामर्थ्य रखता है। और उपर्युक्त पद्यों जैसी अनेक कविताओं में वह अपरिमार्जित अभिव्यक्ति चित्रात्मक और कलात्मक हो उठी है।)

: ३ :

साहित्य में यथार्थ और नैतिक मान

साहित्य में यथार्थ और नैतिक मान प्रायः परस्पर विरोधी रूप में देखे जाते हैं, कारण यह है कि लोग दोनों को दो सीमाएँ मान लेते हैं। यथार्थ के स्वरूप की पकड़ और नैतिकता के रूप निर्धारण में विभिन्न लोगों की विभिन्न दृष्टियाँ हैं। वे एक ओर अत्यधिक कुरूप, नग्न और स्थूल आँखों से दिखाई पड़ने वाले जगत और जीवन को यथार्थ मान लेते हैं, दूसरी ओर इसे सुघड़, सुन्दर और मंगलमय बनाने वाले काल्पनिक सिद्धान्तों को नैतिकता। इस प्रकार एक वर्ग साहित्य के मूलभूत रूप को प्रत्यक्ष जगत और जीवन के दृश्यों और उनसे प्राप्त लेखक की बौद्धिक और भावात्मक प्रतिक्रिया पर आधारित मानकर साहित्य में नैतिकता का विरोध करता है और दूसरा वर्ग—नैतिकता का आग्रही—यह दार्शनिक पक्ष उपस्थित करता है कि यह प्रत्यक्ष जगत असत्य है, सत्य है इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत के भीतर व्याप्त परोक्ष आत्मसत्ता जो अजर, अमर है, जो माया के आवरण में धुंधली-सी दिखाई पड़ रही है। मनुष्य का सच्चा धर्म यही होना चाहिए कि वह आत्मा के निखार के लिए सतत् प्रयत्न करे। आत्म-सत्ता की व्यापकता के कारण सारा जड़-चेतन संसार एक है। अतः मनुष्य के लिए विश्वबन्धुत्व की भावना का विस्तार और परार्थ के लिए आत्म-त्याग ऊँचे गुण हैं। मनुष्य के शारीरिक सुख-दुःख, भूख-प्यास, गरीबी और सम्पन्नता सब बाहरी अवास्तविक वास्तविकताएँ हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि इन भौतिक आकाँक्षाओं से ऊपर उठकर आत्मा की भूख-प्यास की तृप्ति की साधना करे। नैतिकता के आग्रही लोग आजकल भी सामाजिक समस्याओं की छाती पर आत्म-दर्शन का ही आला लगाकर निदान और उसकी औषधि प्रस्तुत करते हैं। चूँकि साहित्य मानव-जीवन के उत्कर्ष का एक साधन है अतएव उसे इस नैतिकता को सर्वत्र स्वर देना चाहिए। यदि साहित्य मानव जीवन का चित्र मात्र है तो भी उसे नैतिकता को चित्रित करना चाहिए क्योंकि नैतिकता ही जीवन का शाश्वत सत्य है।

ऊपर जिन दो सीमाओं की चर्चा की गई है उन्हें कुछ अवतरणों से स्पष्ट करने की आवश्यकता है। वर्तमान युग विज्ञान का है। विज्ञान ने अपने प्रयोग द्वारा मनुष्य की अनेकानेक प्राचीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों और मान्यताओं को झटक कर फेंक दिया है। प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरनेवाला पदार्थ ही यथार्थ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी बहुत कुछ आदर्शवादिता चली आ रही थी किन्तु डिटरमिनिस्ट स्कूल तथा फ्रायड, युंग, एडलर आदि ने विशुद्ध विज्ञान की कसौटी पर मानव-मन की परीक्षा की। मनुष्य के अवचेतन में कुछ सहज वासनाएँ होती हैं जिनमें कामवासना प्रधान और सबकी शासिका होती है। बचपन से ही मनुष्य की इस वासना की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में हुआ करती है। ज्यों-ज्यों वह सयाना होता है त्यों-त्यों उसकी सामाजिक चेतना उसकी नग्न उच्छृंखल वासनाओं का दमन करती है, वे वासनाएँ दमित होकर अवचेतन में पड़ी रहती हैं, उनमें ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं। वे दमित वासनाएँ अपने निकास के लिए अनेक परिष्कृत (sublimated) मार्ग ढूँढ़ती हैं। दमित वासनाओं का निकास न हो सकने के कारण मनुष्य उन्माद जैसे अनेक जटिल रोगों का शिकार बन जाता है। कविता भी इन्हीं दमित वासनाओं के निकास का एक रूप है। फ्रायड के कहने का निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि मनुष्य के विकास के लिए उसकी वासनाओं का दमन नहीं उपयोग श्रेयस्कर है। सामाजिक आवरण मनुष्य के स्वच्छन्द आनन्द में बाधक बनता है। फ्रायड के इस मनोवैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति आजकल के बहुत से रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में हो रही है।

पश्चिम के यथार्थवादी और अतियथार्थवादी आन्दोलनों का रूप भी कुछ ऐसा ही था। उनका कहना यह था कि संसार में शिव और सुन्दर के स्थान पर अशिव और असुन्दर ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। यह यथार्थ है कि ईमानदार लोग भूखों मरते हैं, अनेक कष्ट पाते हैं और बेईमान तथा मक्कार आराम से गुजर-बसर करते हैं। सज्जन प्रताड़ित और पराजित होते हैं तथा दुर्जन विजयी होते है। जब जगत में यही यथार्थ है तो साहित्य में एक काल्पनिक नैतिकता का रूप खड़ा कर धोखा क्यों दिया जाए? प्रकृतिवादी जोला आदि ने एक पग और आगे बढ़कर कहा कि मनुष्य मूलतः पशु है। उसमें पशु के

ारोपित। अतएव मनुष्य के आन्तरिक रूप और उसके व्यापारों का चित्र ींचते समय हमें उसकी इन्हीं वास्तविकताओं की ओर ध्यान देना चाहिए।

नैतिकता के समर्थक हैं पूरब और पश्चिम के अध्यात्मवादी, उदारवादी ार्शनिक और मनोवैज्ञानिक। प्लेटो ने तो कविता को त्याज्य इसलिए माना ा कि यह मनुष्य की वासनाओं को उभारती है और अनैतिकता का प्रचार करती है। उसने उन्हीं कविताओं को मान्यता दी थी जो ईश्वरोन्मुख हों। ुनरुत्थानवादी नए युग में प्राचीन मान्यताओं और आदर्शों की स्थापना चाहते हैं। ये समन्वय मार्गी होते हैं। नैतिकतावादी कलाकार किसी न किसी एक ऐसे आदर्श की स्थापना करते हैं जो तत्कालीन सामाजिक स्थिति के यथार्थ से बहुत ऊपर और भिन्न होता है। इनकी स्थापना का ढंग वैज्ञानिक नहीं, काल्पनिक होता है। ये कलाकार कला में यथार्थ के चित्रण और कला की कुशलता पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि नैतिकता के प्रचार पर।

समन्वयवादी कलाकार यथार्थ और नैतिकता का मेल चाहते हैं। कला के स्वरूप की हत्या भी न हो, जीवन का यथार्थ भी बना रहे और एक आदर्श की स्थापना भी हो जाए। इसीलिए प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्य में केवल उपर्युक्त प्रकार का यथार्थ वांछित है या केवल नैतिकता या दोनों का समन्वय? जहाँ तक साहित्य में यथार्थ चित्रण की बात है वहाँ तक कोई आपत्ति खड़ी नहीं होती। यह निर्विवाद सत्य है कि साहित्य मानव समाज की यथार्थ समस्याओं, आकांक्षाओं, विचारों, भावों और कार्यों का चित्र है। वह यथार्थ चित्रण द्वारा ही मानव-मन में यह विश्वास पैदा करता है कि वह जो कुछ कह रहा है वह उसी की दुनिया की बात है। मनुष्य उसमें अपना सच्चा रूप देखकर हँसता है, रोता है, अपनी संवेदनाओं का विस्तार करता है, अपनी समस्याओं का हल ढूंढ़ता है।

नैतिकता के संबंध में समय-समय पर विवाद खड़े होते रहे है। कला को कला तथा मनोरंजन के लिए मानने वाले तथा वास्तविकता और अतिवास्तविकता का आग्रह करने वाले साहित्यकार साहित्य में नैतिकता को व्यर्थ समझते हैं। फिर भी आदिकाल से ही साहित्य में नैतिकता का आग्रह करने वाले आचार्यों और कलाकारों का एक खासा वर्ग रहा है। मम्मट ने

ही और संकेत किया है। यद्यपि 'शिवेतरक्षतये' की व्याख्या शारीरिक रोग व्याधि के नाश के अर्थ में ही की गई है किन्तु इसकी व्यापक व्याख्या की अपेक्षा है। 'शिवेतरक्षतये' का अर्थ 'समाज में जो भी अमंगल और कुरूप हैं, शिवेतर हैं,' उनके विनाश से है।

'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' में उपदेश काव्य का प्रयोजन माना गया है किन्तु यह न भूलना चाहिए कि साहित्य में उपदेश और नैतिकता का समावेश कान्तासम्मित होना चाहिए, वाच्य न होकर व्यंग्य होना चाहिए, रुक्ष न होकर मधुर होना चाहिए। उपदेश का रूप रूढ़ि पर आधारित नहीं वरन् युग की समस्याओं के समाधान के अनुरूप होना चाहिए।

(मैं यथार्थ और नैतिकता दोनों को दो सीमाओं के रूप में देखने का पक्षपाती नहीं। मेरी दृष्टि से साहित्य में यथार्थ और नैतिकता एक हैं, आवश्यकता है दृष्टि की परिपक्वता और हृदय की ऊँचाई से उन्हें परखने की। यथार्थ क्या है ? यथार्थ को हम किसी काल और स्थान से अलग काटकर नहीं देख सकते। प्रत्येक युग का यथार्थ अपनी कुछ न कुछ विशिष्टता रखता है।) मानव अनादिकाल से परिवर्तन-पथ पर चरण धरता हुआ चला आ रहा है। मनुष्य जिन सहज प्रवृत्तियों को लेकर पैदा हुआ होगा वे प्रवृत्तियाँ सामाजिक भावना के विकास के अभाव में निरपेक्ष रूप से यथार्थ रही होंगी। किन्तु धीरे-धीरे मानव अपने सामाजिक संबंधों की सृष्टि और विकास करता गया। सामाजिक सम्बन्धों के ही कारण उसकी चेतना निर्मित हुई। उस चेतना द्वारा वह अपने अवचेतन में उठी हुई उन नग्न वासनाओं का दमन करता है जो समाज हित में घातक सिद्ध होती हैं। इस तरह मनुष्य की सामाजिक चेतना उसे गुलामी का अभिशाप नहीं, मुक्ति का वरदान देती है। पशुओं, पक्षियों में सामाजिक बंधन नहीं है। उनमें आपस में मिलकर सोचने, समझने और किसी विपत्ति का सामना करने की शक्ति नहीं। अतः वे गुलाम हैं। इस प्रकार चाहे एक व्यक्ति के जीवन के विकासक्रम को देखें चाहे पूरी मानवजाति के विकासक्रम को, यह लक्षित होता है कि मनुष्य सामूहिक रूप में आर्थिक आधार पर प्रकृति से संघर्ष कर रहा है। इसी आर्थिक आधार की प्रकृति के अनुरूप मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध बदलते रहते हैं। सामाजिक संबंधों के अनुरूप वर्गों—शोषक और शोषित—की मानसिक स्थिति, सौन्दर्य-बोध, दर्शन, समस्याएँ, आकांक्षाएँ

बनती रहती हैं, तात्पर्य यह है कि उनके मानों में अन्तर आता रहता है। ये अनेक विचारात्मक और भावात्मक दशाएँ मनुष्य के ऊपर बाहर से लादी नहीं जातीं वरन् ये संस्काररूप मनुष्य के दिल और दिमाग़ में जमती-जमती उसकी अनूभूति के अंग बन जाती हैं। अतएव यह कहना कि पशु-सामान्य सहज प्रवृत्तियाँ ही मानव-मन की सत्य हैं, गलत है।

यह विचार कर लेने पर कि मनुष्य का यथार्थ सीमित और स्थिर नहीं, व्यापक और गतिशील है यह देखना चाहिए कि यथार्थ और नैतिकता में क्या कहीं अन्तर है ? नए युगों को जो लोग पुरानी दृष्टि से देखते हैं वे वर्तमान युग-वास्तव को छोड़कर प्राचीन आदर्शों के आँचल में मुँह छिपाने में ही कल्याण समझते हैं। किन्तु दुनिया का विकास स्वाभाविक ढंग से होता जा रहा है यह विकास अपरिहार्य है। इस विशाल जनसमुदाय के बढ़ते हुए कदम के आगे खड़ा होकर कोई बौना-सा आदमी अतीत की दुहाई देकर उन्हें रोकना चाहे तो उसकी क्या दुर्गति होगी, सहज अनुमेय है। नए विकास को अनैतिक और कुरूप कह कर वे विकास के वैज्ञानिक मार्ग को अवरुद्ध करना चाहते हैं।

सवाल यह है कि क्या यह विकास कुरूप और अनैतिक होता है ? अध्यात्मवादियों ने तो विकास को सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग इन चार भागों में बाँटकर क्रमशः उसे धर्म की दृष्टि से ह्रासोन्मुख दिखाया है। यहाँ तक कि क्रमशः नैतिकता का पतन संसार को प्रलय के मुख में ढकेल देता है। इस रूढ़-रूप ग्रस्त धर्म के आधार पर किया गया विकास का विभेद इतना तो संकेत अवश्य करता है कि समाज की आदिम अवस्था में जटिलता नहीं थी किन्तु यह जटिलता बढ़ती गई। इतनी बढ़ी कि मनुष्य अपने अगले क्षण की बात निश्चित रूप से कह सकने में असमर्थ है। पता नहीं, अभी वह दूसरों को जो वचन दे रहा है, उसे इस जटिलता के फेर में पड़कर पूरा कर पाएगा कि नहीं। इसमें उसका दोष नहीं किन्तु अध्यात्मवादी बिना परिस्थिति और युग का अध्ययन किए हुए इसे अधर्म के नाम से पुकार उठेंगे। प्राचीनों के लिए अपनी जबान का मूल्य इतना हो सकता था कि उसके पालन के लिए वे अनेक दूसरे बड़े-बड़े कर्त्तव्यों की उपेक्षा भी कर सकते थे और एक के लाभ के लिए सैकड़ों की हानि भी कर सकते थे किन्तु आज किसी को जबान दे देने के पश्चात् यदि उसके पालन के अवसर पर दूसरी बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई तो

हमें सोचना पड़ेगा कि इस समय क्या करें ?

मार्क्सवाद विकास के चक्रवत रूप को नहीं मानता। वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर वैज्ञानिक विवेचन से यह सिद्ध करता है कि प्रकृति और समाज दोनों में दो विरोधी तत्त्व संघर्ष किया करते हैं। पुराने तत्त्व जर्जर होकर मरा करते हैं, नए तत्त्व अस्तित्व में आकर विकसित होते हैं। जब नए तत्त्व अस्तित्व में आते हैं तो पुरानी घुटन समाप्त होती है, क्रान्ति के आलोक में नया निर्माण जगमगा उठता है। पुरानी सड़ी मान्यताओं के पत्र झड़ पड़ते हैं, नई मान्यताओं की कोपलें निकल पडती हैं। इस अवस्था का यथार्थ स्वयं नव-निर्माण की भावना से प्रेरित होने के कारण उच्चकोटि का नैतिक होता है। लेखक को ऊपर से कोई नैतिकता लादने की जरूरत नहीं, जनता के संघर्ष के फलस्वरूप बदलते हुए युग यथार्थ को सच्चाई से चित्रित कर देना ही अलम् है।

किन्तु यह नई क्रान्ति जन्म से ही अपने में अन्तर्विरोध लेकर उत्पन्न होती है। कुछ दिन पश्चात् इस क्रान्ति का रूप पुराना पड़कर रूढ़ और अनुपयोगी हो जाता है और उसमें का उपेक्षित सतत् संघर्षशील तत्त्व सिर तानकर खड़ा हो जाता है। यह क्रान्ति अपनी पतनावस्था में दीपक की अन्तिम शिखा की भाँति अपनी सारी शक्ति निचोड़ कर नए तत्त्वों को भस्म करने के लिए भभक उठती है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। उसे मिटने में देर हो सकती है किन्तु उसका विनाश निश्चित होता है। इस स्थिति में साहित्यकार का क्या कर्त्तव्य है ? उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने युग में जन-समूह के भीतर व्याप्त यथार्थ को सच्ची दृष्टि से पहचाने। तत्कालीन जन-समूह की शक्तियाँ कहाँ, किससे और क्यों संघर्ष कर रही हैं, कौन-कौन-सी नई मान्यताएँ खड़ी हो रही हैं जो युग के अनुरूप उपादेय हैं, कौन-कौन सी मान्यताएँ अनुपयोगी होकर भी जीने का प्रयास कर रही हैं, इन सबका चित्र साहित्य में प्रस्तुत होना चाहिए। ऐसा होने से वह साहित्य यथार्थ होगा और नैतिकता से उसका कोई दुराव नहीं होगा।

थोड़ी-सी जटिलता संक्रान्ति काल में अवश्य बढ़ जाती है जब पुरानी शक्तियाँ जीने का मिथ्या दम भरती हैं और नई शक्तियों को खत्म करने के लिए अन्तिम जोर मारती हैं। इस स्थिति में असावधान रहने पर या जान-बूझकर साहित्यकार यथार्थ के नाम पर लोगों को धोखा दे सकता है। वह इस अन्तिम

प्रयत्न को युग की असली शक्ति मानकर उसे युग यथार्थ के रूप में चित्रित कर सकता है या जनता की उभरती हुई शक्ति को आँख से ओझल कर देने के लिए वह वासना और व्यक्तिगत कुण्ठाओं का साहित्य रचता है। इस प्रकार यहाँ यथार्थ और नैतिकता में अन्तर आ जाएगा। किन्तु जागरूक दृष्टि वालों के लिए यह भूल संभव नहीं। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि नई जन-शक्तियों को उनके वास्तविक रूप में उभार कर रखे और पुरानी शक्तियों के खोखलेपन और अनुपयोगिता का पर्दाफाश करे। इस यथार्थ चित्रण से लोगों के हृदय में पुरानी शक्तियों की कुरूपताओं से घृणा और नई शक्तियों के प्रति संवेदना उत्पन्न होगी।

जिन लेखकों के पास सुलझी हुई नई दृष्टि नहीं रहती है वे किसी ऊपरी व्यक्तिगत और नगण्य यथार्थ को चित्रित कर यथार्थवादी होने का दम भरते हैं। प्रकृतिवादियों ने यह तो देखा कि मनुष्य में पशु सुलभ वासनाएँ विद्यमान रहती हैं किन्तु यह नहीं देखा कि इस सत्य से बलवान और व्यापक सत्य यह है कि मनुष्य मनुष्य है उसमें सामाजिक चेतना है। पुरानी नैतिकता के लोग किसी चोर को देखकर उसे घृणा करेंगे और साधुता और ईमानदारी के मन-मन भर के पत्थर उसके खाली दिमाग पर पटकेंगे किन्तु इस यथार्थ की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाएगी कि यह भला आदमी अनेक अदम्य परिस्थितियों से मजबूर होकर यह कृत्य करने पर उतारू हुआ है। (सच्चा साहित्यकार उसकी परिस्थितियों में घुसकर सत्य का पता लगाता है और उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति उत्पन्न कर नैतिकता का कार्य करता है।)

लेकिन साहित्यकार के लिए केवल दृष्टि अपेक्षित नहीं। दृष्टि तो यथार्थ तक ले जाने का 'गाइड' है। लेखक को उन परिस्थितियों के यथार्थ को अपनी अनुभूति का अंग बनाने के लिए उसके साथ एकात्म होना पड़ेगा। एकात्म होने पर ही लेखक किसी यथार्थ का मार्मिक चित्रण उपस्थित कर सकता है। विश्व के महाकवियों की सफलता का यही रहस्य है।

: ४ :

प्रकृति-चित्रण और काव्य

प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध बहुत सनातन एवं चिरंतन है। वह इसलिए कि प्रकृति और मानव-जीवन का सम्बन्ध बहुत गहरा और शाश्वत है। सभी बड़े विचारक और कलाकार एक स्वर से इस सत्य की घोषणा करते हैं कि काव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। अतः यह स्वाभाविक है कि मानव जीवन के सर्वाधिक समीप और उसे अत्यधिक प्रभावित करने वाली प्रकृति का विविध स्वरूप काव्य में अंकित हो। जितने रूपों में मानव-जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं या पड़ सकते हैं सब की अभिव्यक्ति काव्य में लक्षित होती है या हो सकती है। मानव और प्रकृति के सम्बन्धों को सब स्वीकार करते हैं, किन्तु उन सम्बन्धों के स्वरूपों को लेकर विभिन्न मतवादों की सृष्टि हो जाती है। यह स्पष्ट है कि हमारी समस्त धारणाएँ हमारी मौलिक प्रवृत्तियों, युग और देशानुरूप निर्मित परम्पराओं, सामाजिक सम्बन्धों और परिवेष्टनों तथा दृष्टिकोणों के अनुरूप बनती हैं और विकसित होती रहती हैं और काव्य के निर्माण और विकास में इन सबका अपरिहार्य योग रहता है। इसलिए प्रकृति-चित्रण और काव्य, इन दोनों के सम्बन्धों को अटूट मानते हुए भी हमें यह देखना है कि वे सम्बन्ध किन-किन रूपों में और क्या हैं? उनके विषय में साहित्यकारों की क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हैं?

यदि हम मानव-जीवन के विकास का इतिहास देखें तो ज्ञात होगा कि मानव सृष्टि के आदि काल से ही प्रकृति के गहन साहचर्य में पलता आ रहा है। प्रकृति की अनन्त सत्ता हमारे चारों ओर बिखरी हुई है इसलिए हम पग-पग पर, क्षण-क्षण पर इस नागरिक सभ्यता के युग में उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। फिर उस आदिम काल में मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध की प्रगाढ़ता का क्या कहना जबकि वह संख्या में बहुत थोड़ा था और सामाजिक शक्ति और चेतना का विकास नहीं कर सका था और अपने जीवन के भरण-पोषण एवं अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतः प्रकृति पर अव-

लम्बित था। मनोरंजन के कृत्रिम साधन निर्मित न कर सकने के कारण प्रकृति के उपकरण से ही जी बहलाया करता था, बौद्धिक चेतना के अभाव और प्रावृत्तिक प्रेरणा के प्राधान्य के कारण वह अपने चारों ओर बिखरे हुए प्राकृतिक उपादानों को आश्चर्य और आनन्द की दृष्टि से देखकर कभी भयविह्वल और कभी हर्षाभिभूत हो उठता था। उस समय प्रकृति और मानव का सम्बन्ध प्रवृत्तिमूलक था। मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को न समझ सकने के कारण उसके आह्लादकारी रूप से प्रसन्न हो उठता था, भयावह रूपों से भयकातर, और इसीलिए उस समय के प्रकृति और मानव के सम्बन्धों का रूप बड़ा ही गहरा और तीव्र, भावात्मक या आवेगात्मक दिखाई पड़ता है। आदि काल के साहित्य में प्रकृति का यही विराट, अनावृत्त और आवेगात्मक चित्र उपलब्ध होता है। उस काल का दार्शनिक चिन्तन भी मूलतः चिन्तन न होकर प्रकृति के रहस्यमय रूपों को जान लेने की जिज्ञासा है। तात्पर्य यह है कि आदि कालीन मानव जीवन को पूर्णतः पालित और संचालित करने वाली प्रकृति थी। इसलिए मनुष्य प्रकृति को अपने जीवन का आलम्बन मानता था। एक तो अभी उसमें अपने को समझने-बूझने की चेतना का आत्यंतिक विकास नहीं हुआ था, दूसरे प्रकृति चारों ओर से उस पर हावी थी, इसलिए वह प्रकृति पर किसी भावना या चेतना का आरोप न करके आलम्बन रूप में उसका वस्तुगत बाह्य रूप अंकित करता था। यही कारण है कि आदि कवि बाल्मीकि और अन्यान्य पुराने कवियों ने प्रकृति को आलम्बन मान कर उसका बड़ा ही व्यापक चित्र खींचा है।

आज हम नागरिक सभ्यता में पल रहे हैं। वनों से गाँवों और गाँवों से नगरों की ओर हम बढ़ते आए हैं अर्थात् क्रमशः प्रकृति के फैलाव की ओर से हट कर मानव-निर्मित पदार्थों के सम्पर्क में आए हैं तो भी क्या हमारे हृदयों में प्रकृति के प्रति ममता अवशेष नहीं है? यदि है तो क्यों है? क्या मानव और प्रकृति का सम्बन्ध परिस्थिति सापेक्ष नहीं है? क्या प्रकृति का सौन्दर्य एक निरपेक्ष और शाश्वत सौन्दर्य है? यदि ऐसा है तो सभी कालों और सभी परिस्थितियों में निवास करने वाले कवियों को समान भाव से प्रकृति चित्रण करना चाहिए। किन्तु विवेचन करने पर हमें ज्ञात होता है कि मानव और प्रकृति का सम्बन्ध परिस्थिति-सापेक्ष है इसलिए आदि काल का प्रकृति-चित्रण मध्यकाल और आधुनिक काल में नहीं मिलता। किन्तु आधुनिक काल में भी हम प्राकृतिक सौन्दर्यों से क्यों

प्रभावित होते हैं ? नगरों में रहते हुए भी हम क्यों वन्य-सौन्दर्य देखने के लिए लालायित रहते हैं या नगर में बैठे-बैठे प्राप्त होने वाले प्रकृति सौन्दर्य—चाँद, हवा, बादल, वसन्त, शरद् आदि—से हम क्यों मुग्ध होते हैं ? इसके दो कारण हैं; एक कारण की ओर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने निर्देश किया है—

"जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है, उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।"

—काव्य में प्राकृतिक दृश्य

दूसरा कारण यह है कि मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य का प्रेमी है। सौन्दर्य शब्द स्वयं में बड़ा ही विवादास्पद है किन्तु सौन्दर्य के सम्बन्ध में व्यक्त एन० जी० चरनीसेवस्की का विचार अत्यधिक मान्य है। उसका कहना है कि संसार में मनुष्य सबसे अधिक जीवन को प्यार करता है। "और सौन्दर्य वह है जिसमें हम जीवन देखते हैं. जो जीवन की अभिव्यक्ति करता है या हमें जीवन का स्मरण दिलाता है।"[1]

प्रकृति में अक्षय सौन्दर्य है क्योंकि उसमें अक्षय जीवन है, अनन्त ताज़गी है। प्राकृतिक दृश्य अपनी इसी अक्षय जीवन्तता के कारण हमारे हृदयों को ताज़गी से भर देते हैं और उन्हें हम रोज देख कर भी अघाते नहीं हैं। उसका सौन्दर्य नित नवीन जीवन से अनुप्राणित ज्ञात होता है। यह जीवन, यह ताज़गी मानव-कृत वस्तुओं में नहीं, इसलिए उन्हें हम कुछ सीमा तक देखकर छोड़ देना चाहते हैं। इसलिए कलाकार मानव हृदय को प्रभावित करने के लिए बार-बार प्रकृति-चित्रण करता है। इसीलिए वह प्रकृति-सौन्दर्य को सम्बोधित कर पुकार उठता है—

"बार-बार तुम आए, छाए छाए छाए,
लेकिन हर बार लगा, पहले पहले आए !"

---

1. Beautiful is that being in which we see life, as it should be acoording to our conception, beautiful is the object which expresses life, or reminds us of life.

—*Selected Philosophical Essays*

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कविता में प्रकृति-चित्रण का स्वरूप क्या हो ? आचार्य शुक्ल के मत से वाल्मीकि आदि द्वारा चित्रित प्रकृति-दृश्य ही प्रकृति-चित्रण का आदर्श है अर्थात् प्रकृति को आलम्बन के रूप में स्वीकार करो। शुक्ल जी का कथन बहुत सीमा तक सही है। यह कथन रीतिकालीन कवियों की प्रकृति को उद्दीपन के रूप में चित्रित करने वाली मनोवृत्ति के विरुद्ध एक चेतावनी है। उद्दीपन वाली प्रणाली सचमुच बड़ी ही गर्हित प्रणाली थी। वे अपनी कविताओं में मानव-जीवन की जीवन्त चेतनाओं और संवेदनाओं का चित्र न देकर अस्वस्थ और हल्की शृंगारिक चेष्टाओं का स्वरूप अंकित करते थे। इस निर्जीव तत्त्व-निरूपण में वे प्रकृति के उपकरणों की सुषमाओं को भी ऐसी बना देते थे। इस प्रकार उन्होंने अपार शक्तिमती जीवन्त चेतना से स्पन्दित प्रकृति का मज़ाक उड़ाया। प्रकृति स्वतः हमारे भावों का आलम्बन बन सकती है, उसमें हमारे अनेक राग-विरागों को जगाने की क्षमता है। अतः हम उसका चित्रण आलम्बन रूप में क्यों न करें।

यहाँ इस बात का संकेत कर देना उचित होगा कि आचार्य शुक्ल की इस स्थापना की एक सीमा है। वह यह कि उन्होंने एक तो प्रकृति को विकासशील युग और समाज की सापेक्षता में नहीं देखा, दूसरे प्रकृति के यथातथ्य चित्रण की ओर ही उनका ध्यान अधिक रहा। (वाल्मीकि का शुद्ध आलंबनगत विस्तृत प्रकृति-चित्रण सर्वथा वस्तुगत है, यथा-तथ्य मूलक है।) उस काल का समाज और स्वयं कवि का अरण्य निवास इस प्रकार के चित्रण का कारण हो सकता है। किन्तु सदैव वैसा ही सरल समाज बना नहीं रह सकता। वह धीरे-धीरे जटिल और नागरिक होता गया। उसकी समस्याएँ उलझती गईं। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बदलता गया। मानव और प्रकृति का संघर्ष घना होता गया। मानव प्रकृति पर विजय पाने के लिये निरन्तर चेष्टा करने लगा। वह उसका मुखापेक्षी होने के स्थान पर उसे अपना अनुचर बनाने लगा। तात्पर्य यह है कि जटिल समाज में ज्यों-ज्यों समस्याएँ जटिल होती गईं त्यों-त्यों मनुष्य की बौद्धिक चेतना भी विकसित और जटिल होती गई। मनुष्य का व्यक्तित्व सीधा और निश्छल न रह कर उलझता गया। वह जीवन-जगत को देखने का, अपनी समस्याओं को हल करने का, एक दृष्टिकोण निर्मित करने लगा। वह विश्व की समस्त विभूतियों को मानव जीवन के उत्कर्ष का साधन मानने लगा। वह सर्वत्र अपनी

चेतना का प्रसार देखने लगा। सर्वत्र अपने जीवन-दर्शन को आरोपित करने लगा। इसलिए वह प्रकृति को भी अलग से न देखकर अपने ही दुखों-सुखों में समेट कर देखने लगा। अर्थात् प्रकृति का और उसका सम्बन्ध शुद्ध प्रवृत्तिमूलक न रह कर बौद्धिक भी हो गया।

भक्तिकालीन महाकवियों—सूर, तुलसी आदि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में नहीं ग्रहण किया और न उसका विस्तार से चित्रण ही किया) तो भी उनके काव्य महान् हैं क्योंकि उनके काव्य का उद्देश्य मानव की महानताओं का उद्घाटन करना है, मानव-प्रकृति की विविधताओं का निरूपण करना है। मेरा यह कहना नहीं है कि ये विशेषताएँ वाल्मीकि में नहीं हैं (बल्कि वाल्मीकि में ये विशेषताएँ और भी गहराई के साथ व्यक्त हुई हैं)। मेरा कहना यह है कि सूर-तुलसी के सामने वाल्मीकि के युग की अपेक्षा मानव-जीवन की समस्याएँ अधिक जटिल हो गई थीं, इसलिए इन कवियों का ध्यान प्रकृति की ओर कम गया और मानव-जीवन की ओर अधिक। काव्य की महानता की सृष्टि केवल एक उपकरण से नहीं होती, इसलिये यहाँ मैं काव्यगत महानता का प्रश्न नहीं उठाता। इन भक्त कवियों ने प्रकृति को मानव जीवन के किसी न किसी सत्य की अभिव्यक्ति के लिए चुना।)

रीतिकालीन कविता की अस्वस्थ प्रकृति की चर्चा छोड़ कर हम छायावादी कविताओं की चर्चा करेंगे। छायावादी युग व्यक्तिगत चेतना के प्रसार का युग है। कवि प्रकृति में वैयक्तिक चेतना का आरोप करते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति का प्रत्येक उपकरण सजीव है, उसमें भी मानव-जीवन की-सी चेतना है बल्कि एक ही महत् चेतना का प्रसार जड़-चेतन सब में है।) अर्थात् प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता छायावादी युग में नहीं रह गई बल्कि कवि अपनी वैयक्तिक (जो उस युग की देन थी) रहस्यवादी और बौद्धिक चेतनाओं का उस पर आरोप करने लगा। जगत और जीवन की समस्याओं और उसके दार्शनिक समाधानों के रूप उनके मन में अंकित थे उन्हीं को बल देने के लिए प्रकृति भी सहायक होने लगी। भावुक कवि पन्त समाज और जीवन से मुक्त रहकर पहले तो मुग्ध भाव से प्रकृति की अराधना करते हैं—जैसे वही जीवन का चरम सत्य हो लेकिन बाद में जीवन-यथार्थ के प्रति जागरूक होने पर वे स्पष्ट घोषित करते हैं—

"सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।"

बाद में वे प्रगतिवादी दृष्टि से, फिर अरविन्द की ऊर्ध्वमुखी चेतनावादी दृष्टि से प्रकृति को ग्रहण करने लगे। प्रसाद, महादेवी, निराला की प्रकृति उनके विचारों और अनुभूतियों की सहगामिनी होकर आई है। प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना का आख्यान है। सामाजिक संघर्ष, सामाजिक हित, सामाजिक जीवन, सामाजिक जीवन की विजय के प्रति आस्था, मार्क्सवादी दृष्टिकोण, नये-पुराने तत्त्वों का द्वन्द्व, ये प्रगतिवादी साहित्य को प्रभावित कर रहे हैं। प्रकृति भी इसी सामाजिक काव्य की सामाजिक चेतना के अनुरूप ही चित्रित हो रही है।

(अभिप्राय यह है कि हमारा सौन्दर्यवाद सामाजिक जीवन की तरह ही बड़ा जटिल होता है और वह जीवन के लिए ही, जीवन से निर्मित होता है। प्रकृति हमारे सौन्दर्यवाद को सदा से प्रभावित करती रही है और करती रहेगी, किन्तु चूंकि वह जीवन के लिए है, इसलिए जैसे जीवन की कोई निश्चित स्थिर रूप-रेखा खींच पाना असम्भव है (और जैसे उसकी अभिव्यक्ति करने वाले काव्य की गति का कोई स्वरूप निश्चित कर देना नामुमकिन है) उसी तरह प्रकृति-चित्रण के किसी एक स्वरूप को सर्वोत्कृष्ट और अन्तिम कह देना अस्वाभाविक एवं विकासवादी सिद्धान्त की दृष्टि से गलत है।)

: ५ :

प्रगतिवाद और उसके प्रमुख कवि

मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रेरित और सामाजिक यथार्थ स्थिति से निर्मित हिन्दी साहित्य का प्रगतिवाद मूलतः दो पक्षों में बाँटा जा सकता है—

(१) वह सड़ी-गली, रूढ़ि-जर्जर, शोषक और मानवघाती पुरानी जीवन दृष्टियों, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं तथा मान्यताओं का ध्वंस करता है। उसके ध्वंस का तरीका संघर्षात्मक होता है।

(२) वह पुरानी व्यवस्थाओं के स्थान पर नया निर्माण करता है। यह नया निर्माण नवीन युग और नवीन समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए होता है और समाजवाद की स्थापना में समूची मानवता के हित की भावना निहित होती है। सच पूछिये तो इसी निर्माण के महोद्देश्य के लिए ध्वंस जरूरी हो उठता है। बिना निर्माण के स्वप्न के ध्वंस का कार्य अराजकता तथा बर्बरता है। प्रगतिवाद सुधारवादियों की भाँति जर्जर व्यवस्था के सड़े-गले कपड़े में पैबन्द जोड़ने का पक्षपाती नहीं है। वह आमूल क्रान्ति चाहता है।

(हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक प्रगतिवादी काव्य: मूलतः विध्वंसक काव्य है, जिससे केवल पुरानी मान्यताओं को तोड़-फोड़ देने की भयानक ललकार सुनाई पड़ती है। इन कविताओं में विध्वंस, प्रलय, तूफान, भूचाल, महाकाल आदि का आवाहन है। बालकृष्ण शर्मा नवीन, अंचल, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर आदि इस धारा के प्रमुख कवि लक्षित होते हैं।)

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए॥

—इस प्रकार की कविताओं में कला और सामाजिक यथार्थ दोनों दृष्टियों से खोखलापन लक्षित होता है। सच पूछिये तो इन्हें प्रगतिशील कविता की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती, क्योंकि इनमें सामाजिक यथार्थ का चित्र नहीं है, निर्माण की भावना नहीं है और नाश की भावना में भी सामाजिक प्रयास नहीं लक्षित होता, बल्कि वैयक्तिक, उफान और अराजकता ही दृष्टिगत होती है।

बात यह है कि ये सभी कवि मूलतः छायावादी थे या छायावादी संस्कारों से प्रभावित थे। इसलिए नवीन दृष्टि के नाम पर इन्होंने केवल सामाजिक बन्धनों और पूर्व मान्यताओं की अस्वीकृति के तूफानी गीत गाये, लेकिन भावात्मक और व्यक्तिवादी संस्कार होने के नाते इन अस्वीकृतियों के पीछे सामाजिक निर्माण और बौद्धिक-चिन्तन का कोई ठोस आधार उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। संभव है कि मार्क्सवादी दर्शन का स्वरूप पहले इनके सामने स्पष्ट न हो सका हो। उसकी क्रान्तिकारी धारणा का आभास लेकर अपने संस्कारों के अनुकूल ध्वंसात्मक कविताएँ ये लिखते रहे। कविताओं का अभिव्यक्ति-पक्ष भी छायावादी संस्कारों से मुक्त न हो सका। कथन के ढग में सफाई और सरलता तो आयी किन्तु उनकी शब्दावली पुरानी और अस्पष्टार्थ बोधक रही। प्रतीक-विधान भी पिटे-पिटाए और सामाजिक वास्तविकता का बोध कराने मे असमर्थ रहे।

(सच्चे अर्थों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी के पहले प्रगतिवादी कवि कहे जा सकते हैं। पंत जी छायावाद के श्रेष्ठतम कवियों में से एक है। उनकी प्रतिभा, उनकी कल्पना-शक्ति और अभिव्यक्ति-कौशल से हिन्दी साहित्य पहले ही परिचित हो चुका था।) पन्त जी ने छायावाद की नव युगोचित काव्य रच सकने की असमर्थता की घोषणा की और उन्होंने मार्क्स के भौतिक दर्शन के आधार पर नया (प्रगतिशील) काव्य रचने का संकल्प-सा लिया। पन्त जी की प्रगतिशील रचनाओं में प्रगतिशील साहित्य का स्वस्थ रूप दिखाई पड़ता है। अर्थात् उन्होंने एक ओर सामन्ती प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं पर लात मारी, दूसरी ओर नव-निर्माण का स्वर मुखर किया और साथ-ही-साथ जन-जीवन की दशा का सही चित्र अंकित करने की चेष्टा की। अभिव्यक्ति के पक्ष में भी उन्होने अपने पूर्व सस्कारों से अद्भुत संघर्ष किया और सरल से सरल भाषा और शैली में लिखने की कोशिश को। उन्होंने छायावादी अलंकारों और सूक्ष्म काल्पनिक चित्रविधानों की अपेक्षा जन-मन तक भावों को सहज ढंग से ढोने वाली वाणी को प्यार किया—

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?"

पन्त जी की विचारधारा निरन्तर विकासशील रही है, वह सामन्तवादी विचारधारा के विपरीत पूंजीवादी चेतना की समर्थक हुई। पूंजीवादी चेतना के

बाद गांधीवादी धारा, फिर मार्क्सवादी भौतिकवाद, फिर अरविन्दवादी अध्यात्म-दर्शन की तलहटियों में बढ़ती गई है। मेरा उद्देश्य पन्त के प्रगतिशील (मार्क्सवादी) काव्य तक सीमित है, अतः अन्य पक्षों की विवेचना में नहीं भटकूँगा।

पन्त जी ने भावात्मक विद्रोह की बात न कर ठोस बौद्धिक आधार पर मार्क्सवाद की मान्यताओं को स्वर दिया। मार्क्सवादी भौतिकवाद पदार्थ से चेतना की उत्पत्ति और विकास मानता है। भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल और समुन्नत होने से मानव चेतनाएँ तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध समुन्नत हो सकते हैं। चेतना को भौतिक परिस्थितियों से अलग रख कर हम नहीं देख सकते—

"कहता भौतिकवाद वस्तु-जग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर दर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।"

पन्त जी के ही शब्दों में नवीन भौतिकवाद (मार्क्सवाद) दर्शन और विज्ञान का, मानव-सभ्यता के अन्तर्बाह्य विकास का ऐतिहासिक समन्वय है—

"दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन विज्ञान सत्य का करता भव्य निरूपण।"

प्रगतिवाद में ध्वंस और सृजन साथ-साथ रहते है। पुरानी मान्यताएँ बदलती हैं, नयी मान्यताएँ जन्म लेती हैं—

"आओ हे दुर्धर्ष वर्ष, लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान् विज्ञान ज्ञान ले उत्तर यौवन।"

प्रगतिवाद पर यह आक्षेप लगाया गया कि वह मनुष्य के सांस्कृतिक प्रयत्नों को अस्वीकार करता है, केवल स्थूल उपयोगितावाद का समर्थक है। मानव मन का आनन्द और सत्य उसके लिए गौण वस्तु हैं। किन्तु ऐसा कहने वाले केवल अपना दुराग्रह व्यक्त करते हैं। प्रगतिवाद मनुष्य के सांस्कृतिक प्रयत्नों, उसके मन की छवियों और चेतन सत्ताओं को बहुत ऊँचा मूल्य देता है। वह केवल इन सबका सम्बन्ध भौतिक परिस्थितियों से जोड़ता है। भौतिक और सामाजिक स्थितियों के पतन काल में उच्चकोटि की संस्कृति निर्मित नहीं हो सकती। प्रगतिवाद ने एक अत्यन्त उच्चकोटि की संस्कृति और मानव चेतना की छवि

की प्रतिष्ठा के लिए प्रयास किया है। अध्यात्म के "आत्मवत् सर्वभूतेषु" वाले अद्वैतदर्शन की निष्क्रियता में साम्यवाद ने नवीन प्राणप्रतिष्ठा की।

"अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।"

पन्त जी ने मार्क्सवाद के दर्शन को ठीक से समझा था, इसीलिए उसकी दृष्टि पाकर स्वस्थ प्रगतिवादी काव्य निर्माण की ओर उन्मुख हुए। किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि मार्क्सवाद की दृष्टि के साथ सामान्य जन-जीवन के सुख-दुःख को अपने काव्य का विषय बनाने ही से प्रगतिशील काव्य की सृष्टि हो सकती है। दर्शन या दृष्टिकोण काव्य नहीं है, काव्य है जन-जीवन का रागात्मक चित्र खींचना। कहा गया है कि कुछ गिने-चुने विषयों की अपेक्षा जन-जीवन का सामान्य और व्यापक क्षेत्र प्रगतिवादी कवियों का वर्ण्य-विषय बना। वे आकाश की ओर ताकना पसन्द नहीं करते बल्कि इस धरती पर बिखरे हुए सौन्दर्य और कुरूपताओं को नंगी और भूखी मानवता को संवेदनशील हृदय और आस्थाशील दृष्टि से देखना चाहते हैं। यह धरती ही सब कुछ है—

"ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन !
निस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को !
मानव पुण्य प्रसू को !"

पन्त जी ने 'ग्राम्या' में गाँव की ग़रीबी, रीति-रिवाज, नृत्य-गान, सुषमा और दुर्भाग्य सभी का चित्र खींचा है।

पन्त जी की प्रगतिशील कविताओं की कुछ सीमाएँ भी हैं, जो स्पष्ट हैं। पन्त जी ने प्रगतिवाद को समझा और उसे भरसक रूप देने का प्रयत्न किया किन्तु वे उच्चकोटि के प्रगतिवादी कवि न बन सके। उनकी ऐसी कविताओं की दो कोटियाँ हैं। एक में उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध-सा किया, दूसरे में जन-जीवन के चित्र दिये हैं। यह स्पष्ट है कि किसी सिद्धान्त को पद्य-बद्ध कर देने से कविता नहीं बन पाती। कविता में जीवन और जगत का रागात्मक चित्र होना चाहिये। दूसरी कोटि की कविताओं में इस प्रकार का प्रयास अवश्य है किन्तु ये कविताएँ लेखक के जन-जीवन के साथ तादात्म्य का

परिचय नहीं दे पाती हैं। उनमें वर्ण्य-विषय का तटस्थ स्थूल चित्र लक्षित होत है। उन चित्रों में गहरी संवेदना और मार्मिक छवियों का अभाव है। इसक कारण स्पष्ट है कि पन्त जी ने गाँव को दूर से देखा है और उसके बारे में सुन है। उसके बीच घुसकर उसकी विविध अनुभूतियाँ नहीं प्राप्त की हैं। पन्त ज प्रकृति के बीच पले थे इसलिये वे प्रकृति का सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र अंकित करने में कुशल हैं। उनकी सशक्त कल्पना उनकी भोगी हुई जिन्दगी की अनुभूतियं को बड़ी ही मार्मिकता से रूप दे देती हैं किन्तु जन-जीवन के बीच वे कभी उतर नहीं सके थे, इसलिए उनका प्रगतिवादी काव्य जन-जीवन के लिये बौद्धिव सहानुभूति मात्र दे सका। भाषा उनकी अपेक्षाकृत सरल अवश्य हुई किन्तु छन्द और शैली पुरानी ही रही।

छायावादी बड़े कवियों में पन्त के अतिरिक्त निराला जी ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। निराला जी ने पन्त जी की तरह मार्क्सवादी दृष्टि का न तो व्याख्यान किया और न बहुत विस्तार में सामान्य जनता का चित्र ही खींचा। उन्होंने व्यंगात्मक स्वर में 'कुकुरमुत्ता' और 'खजोहरा', 'गर्म-पकौड़ी', 'महँगू महँगा रहा,' 'डिप्टी साहब आए' आदि कविताएँ लिखीं। इन कविताओं में कहीं-कहीं छोटे व्यक्ति का व्यक्तिवादी दंभ लक्षित होता है और कहीं-कहीं सामान्य जनों के प्रति हल्की-हल्की करुणा दिखाई पड़ती है। इन व्यंगात्मक कविताओं के अतिरिक्त 'अणिमा' और 'नये पत्ते' में कुछ ऐसे चित्र दिखाई पड़ते हैं, जिनमें साधारण जनता का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ अंकित हैं। ये चित्र पन्त जी के चित्रों की अपेक्षा अधिक यथार्थ और मर्मस्पर्शी हैं। निराला जी की इस प्रकार की कुछ कविताएँ अवश्य ही पन्त जी की ढेर-सी प्रगतिशील कविताओं की अपेक्षा अधिक संवेदनशील और सशक्त हैं।

निराला जी की संवेदनशीलता शुरू से ही कुछ ऐसी व्यापक रही है और दृष्टि ऐसी प्रसारगामी रही है कि वैयक्तिक अनुभूतियों से भरी मर्मस्पर्शी छाया-वादी कविताएँ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने सहज ही समाज के कुछ दीन-हीन पीड़ित प्राणियों को काव्य का विषय बना लिया। 'वह आता', 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' आदि कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं। यद्यपि सच यह है कि इन कविताओं में कवि ने करुणा के साथ इन विषयों का दयनीय चित्र खींचा

है, इनके पीछे किसी सामाजिक कारण, सामाजिक प्रयास आदि का संकेत नहीं दिया है।

निराला जी की प्रगतिशील कही जाने वाली कविताओं की भाषा-शैली और छन्द-विधान अधिक सहज और व्यावहारिक हैं।

यह प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत थी। किन्तु धीरे-धीरे प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप निखरता गया और उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया। अनेक प्रगतिवाद-विरोधी आलोचक प्रगतिवादी काव्य पर विदेशी होने का आरोप लगाया करते हैं। उनका कहना है कि यह मार्क्स के सिद्धान्तों का साहित्यिक संस्करण है। इस आरोप के दो अंश हैं, एक तो यह कि मार्क्सवाद विदेशी वस्तु है। और दूसरे यह कि वह काव्य या साहित्य न होकर उद्‌बोधन है। उत्तर में निवेदन करूँगा कि मार्क्स ने एक ऐसी नवीन दृष्टि दी है, जिसे विश्व का कोई भी देश अपना सकता है। उस दृष्टि से एक तो हम सामाजिक विकास की सही सही ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर पाते हैं, दूसरे उससे प्रेरित होकर हम एक ऐसी व्यवस्था की प्रतिष्ठा का स्वरूप देखते हैं, जिसमें सारे पाशव अनाचार समाप्त हो जायेंगे और प्रत्येक मनुष्य को मनुष्योचित सुविधाएँ तथा अधिकार मिल सकेंगे तथा अन्य मनुष्यों के प्रति सहज कर्त्तव्य की भावना उसके मन में विकसित होगी। पर दृष्टि विदेशी हो सकती है और विदेशी होने से ही कोई उत्तम वस्तु अग्राह्य नहीं हो सकती। किन्तु जहाँ तक प्रगतिवादी काव्य या साहित्य के विषय पक्ष का प्रश्न है ऐसा विचार करना मिथ्या है। प्रगतिवादी काव्य अपने ही समाज और देश की जनता की चतुर्दिक परिस्थितियों और मानसिक स्तरों को ग्रहण करता है। कविता का सम्बन्ध गहरी अनुभूति से है, रागात्मक चित्र से है और यह सत्य है कि कवि अपने ही समाज और युग की जनता की परंपराओं, क्रियाओं, सुखों-दुःखों, आस्थाओं और अनास्थाओं की गहरी अनुभूति प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के रागात्मक सम्बन्धों से परिचित होता है। प्रगतिवादी काव्य का वर्ण्य-विषय भी अपना ही समाज है। उद्‌बोधन वाले आक्षेप पर आगे अवसर आने पर हम विचार करेंगे।

हाँ तो उपर्युक्त प्रसंग की अवतारणा का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना था कि प्रगतिवादी काव्य पन्त और निराला की कविताओं से फूट कर धीरे-धीरे समाज के विविध पक्षों को अपनी धारा में समेटता गया। द्वितीय महायुद्ध के

पश्चात् भारतीय समाज में अनेक प्रश्न और समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। महा-युद्ध के पश्चात् समाज में अनेक प्रकार की विशृंखलताएँ और विघटन उत्पन्न हुए। अकाल का दौर शुरू हुआ। चोर-बाज़ारी, घूसखोरी का बोलबाला हुआ। विवशता और भुखमरी के कारण त्राहि त्राहि मच गई। राजनैतिक क्षेत्र में स्व-देशी मुक्ति का आन्दोलन चल रहा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रजातान्त्रिक स्वर उठ रहे थे। एशिया के सभी छोटे-बड़े देश पश्चिमी उपनिवेशवाद का जुआ कंधे से उतार फेंकने के लिए आन्दोलन मचा रहे थे। रूसी साम्यवादी राज्य व्यवस्था पीड़ित और शोषित देशों की आँखों में भविष्य का सपना बन रही थी। विदेश में मुसोलिनी और हिटलर जैसे खूँखार लुटेरे पराजित होकर नयी मानवता के मार्ग से आशंका की काली छाया उठा चुके थे। अपने देश में स्वदेशी आन्दोलन के रूप में एक नयी समस्या ज़ोर पकड़ रही थी—वह थी हिन्दू-मुस्लिम समस्या। अंग्रेज़ी सरकार धर्म के नाम पर इन दोनों सम्प्रदायों को लड़ा रही थी और देश के बँटवारे का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। प्रगतिवाद क्रमशः विकसित होकर इन अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्हें स्वर दे रहा था। वह पूर्ण रूप से जनता का पक्ष लेकर मानवता के गीत गा रहा था और इन वास्त-विकताओं को व्यक्त करने के लिये हिन्दी में अनेक व्यक्ति आगे बढ़े, उनमें राम विलास शर्मा, नागार्जुन, केदार नाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा, रांगेय राघव, शिव मंगल सिंह सुमन, भारत भूषण अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिशील कविता की दृष्टि ही विकासशील है। वह रूढ़ होकर किसी एक स्थान पर जमकर बैठ नहीं जाती। वह धीरे-धीरे जीवन और जगत की सम्पूर्णता को अपनी आत्मा में समेटते चलना चाहती है। ऊपर कहा गया है कि प्रगतिशील कविता ने अनेक आन्दोलनों को स्वर दिया, जनता की भूख-प्यास का चित्र खींचा किन्तु जीवन और समाज का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इन आन्दोलनों से प्रेरित कविताओं में नहीं आ सकता था। प्रगतिशील कवियों में बहुतेरों ने अपनी प्रतिभा का अधिकांश पद्यात्मक नारों और उद्‌बोधनों में खर्च किया। और अधिकांश की यह धारणा रही है कि जनता की विवशता, भूख-प्यास एवं अन्य प्रकार की बाह्य दीनताओं तथा शोषकों के जुल्मों का रोषभरे

स्वर में हवाला दे देना ही प्रगतिशील कविता है। ऐसी कविताओं का स्वर उद्‌बोधनात्मक होना चाहिये, यही उनका ख्याल था और कहना न होगा कि आज भी कम्युनिस्ट पार्टी से प्रेरित कई साहित्यिक पत्रिकाओं और कवियों तथा आलोचकों का यह मत है। लेकिन यह स्पष्ट है कि उद्‌बोधन करना या आन्दोलनों और गँवई-शहरी स्थितियों का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करना और बात है और कविता लिखना और बात है। इस किस्म की बहुत-सी प्रगतिशील कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है और है, किन्तु उनका स्थायी महत्त्व कुछ भी नहीं है। इस कमज़ोरी का दोषारोपण प्रगतिशील आन्दोलन या प्रगतिवादी दर्शन पर नहीं किया जा सकता है, जैसा कि प्रायः हठधर्मी लोग कर दिया करते हैं। प्रगतिशील आन्दोलन का दृष्टिकोण तो बहुत उदार, व्यापक तथा महान् संभावनाएँ लेकर आया था, उसे समझने और व्यवहार में लाने वाले लोगों ने अपनी-अपनी सीमाएँ बना लीं और उन सीमाओं के भी बन जाने के ऐतिहासिक कारण थे। छायावाद में व्यक्तिगत राग-विराग, आन्तरिक भाव-सत्ताओं, सूक्ष्म काल्पनिक विचारों पर इतना ज़ोर दिया गया कि उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रगतिशील कविता पहले-पहल स्थूलता की ओर उन्मुख हो गई और समाज तथा मानवता को मथित करने वाले उपकरणों पर उनकी दृष्टि स्वाभावतः अटक गई। प्रगतिवाद की ये प्रारम्भिक कविताएँ उच्चकोटि की कविताएँ भले ही न हों किन्तु उनमें मानवता के लिये अपार सहानुभूति थी और उन्होंने नयी कविता के लिये क्षेत्र विस्तृत किया।

हाँ तो मैं कहना चाहता हूँ कि प्रगतिशील कवियों ने कविता सम्बन्धी अपनी सीमाएँ देखीं और महसूस किया कि मानवता का सम्पूर्ण क्षेत्र प्रगतिशील कविता का विषय हो सकता है। प्रेम की उपेक्षा जीवन और काव्य की उपेक्षा है। प्रेम के बिना जीवन कहाँ? मनुष्य अपनी मज़बूरियों में भी प्रेम करता है। किन्तु वह प्रेम रीतिकालीन ऐहिक प्रेम या छायावादी अतीन्द्रिय प्रेम से भिन्न होना चाहिए। पहले प्रगतिवादियों ने नारी को संघर्ष-क्षेत्र में पुरुष का बाधक माना, किन्तु बाद में उन्होंने उसको संघर्ष की सहचरी समझा, नारी-पुरुष के हृदय में उठने वाले पारस्परिक स्वस्थ आकर्षणों, दाम्पत्य जीवन की सहज अनुभूतियों, सहज राग-विराग आदि को स्वर देना शुरू किया। परिवार में बेबसी है, भूख है, पीड़ा है, किन्तु मनुष्य के हृदय में परिवार का सहज प्रेम भी है; बीवी-बच्चों

का प्यार उसके बाह्य अभाव में आन्तरिक भाव है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका सम्बन्ध अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से है। पर्व, त्यौहार, मेले, पारिवारिक उत्सव तथा अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं से उसका जीवन गुंथा हुआ है? वे परम्पराएँ अभाव-ग्रस्त प्राणी को सामूहिकता का बल देती हैं, उत्साह देती हैं और अभाव-ग्रस्त मनुष्यों को जीवन के प्रति आस्था प्रदान करती हैं। जहाँ प्रगतिशील कवि ने पहले अपनी सांस्कृतिक विभूति को प्रतिक्रिया के आवेश में पुरानी रूढ़ि का नाम दिया और वर्तमान के ऊपरी आन्दोलनों को पकड़ा वहाँ अब वह रूढ़ि में और स्वस्थ सांस्कृतिक परम्पराओं में स्पष्ट भेद देखने लगा तथा परम्पराओं में अन्तर्व्याप्त उच्चकोटि की मानवीय और नैतिक चेतनाओं को अपनाने लगा। जिन तीखी वैयक्तिक संवेदनाओं को स्थूल सामाजिकता के कारण तिरस्कृत किया गया था, उन्हें वह सम्मान देने लगा। व्यक्तिगत भौतिक और मानसिक परिस्थितियों की तीव्र पीड़ाओं और आघातों को वह व्यक्त करने लगा। किन्तु व्यक्तिगत संवेदनाओं के क्षेत्र में उसमें और प्रयोगवादियों में एक मुख्य अन्तर लक्षित होता है। प्रगतिवादी की व्यक्तिगत पीड़ा सामाजिक पीड़ा की प्रतीक होती है, उसका व्यक्तिगत उत्साह सामाजिक उत्साह का अंग होता है तथा वह तीव्र से तीव्र पीड़ा में जीवन के प्रति आस्था बनाये रखता है। प्रयोगवादी की व्यक्तिगत पीड़ा असामाजिक होती है किन्तु प्रगतिवादी जीवन के प्रति आस्था से भरा होता है।

प्रगतिवाद ने प्रकृति के क्षेत्र में बिखरे असीम जीवन-उत्साह को देखा। प्रकृति का एकांत रूप नहीं, जन-संकुल जीवन का रूप उसे पसन्द आया। गाँव, खेत, खलियान, विविध मौसम, नदी, नाव, आस-पास के परिचित पेड़-पौधे प्रगतिवादी काव्य के उपकरण हुए। प्रगतिवादी कवि दूर की किसी काल्पनिक वन्य-छवि में नहीं भटकता, वह अपने गाँव या नगर के बीच और आस-पास फैले हुए जाने-पहचाने प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष-विषाद को चित्रित करता है।

प्रगतिवादी कवि की भाषा-शैली व्यावहारिक होती है। उसके छन्द, प्रतीक शब्दावली, कल्पना-विधान सहज और लोक-जीवन के बीच के होते हैं। प्रगतिवाद की उद्‌बोधनात्मक कविताओं की शैली नीरस, ऊबड़-खाबड़ और असंगत होती थी, किन्तु रागात्मक कविताओं की शैली सरस और परिमार्जित है।

इस विश्लेषण की भूमिका केआधार पर उपयुक्त कवियों की कुछ कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं। उपर्युक्त कवियों में से प्रत्येक का सूक्ष्म विश्लेषण करने का अवसर नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त प्रवृत्तियों की विस्तृत भूमिका पर ये कवि विचरते हैं। इन प्रवृत्तियों का आनुपातिक योग इनमें भिन्न-भिन्न हो सकता है। हाँ यह आक्षेप कि प्रगतिवादी कवियों की कविताओं में वैयक्तिक विशेषताएँ लक्षित नहीं होतीं, सभी एक ही साँचे में ढली हुई प्रतीत होती हैं, गलत है; इनकी भाषाशैली और रागात्मक आवेगों में अन्तर है। हर एक का अपना-अपना व्यक्तित्व है।

केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील कवियों में प्रमुख हैं। इन्होंने अनेक उच्च-कोटि की प्रगतिशील रचनाएँ की हैं। उद्बोधनात्मक कविताएँ भी लिखी हैं, जो कहीं-कहीं अतिसामान्य हैं। इनकी कविताओं में उन्मुक्त सहजता और रागात्मक वेग है। मस्त वसन्ती हवा का एक चित्र लीजिए—

"चढ़ी पेड़ महुआ थपाथप मचाया।
गिरी धम्म से फिर चढ़ी आम ऊपर॥
उसे भी झकोरा, किया कान में कू।
उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची॥
वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी·····

या

मांझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता।
मेरा मन डोलता कि जैसे जल डोलता।
जल का जहाज जैसे पल पल डोलता॥"

नागार्जुन की कविताएँ मुख्यतया तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गम्भीर संवेदनात्मक और कलात्मक हैं, जिनमें कवि ने मानव-मन की रागात्मक और सौन्दर्यात्मक छवि अंकित की है और साथ ही साथ मनुष्य की मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो सामाजिक कुरूपता, राजनैतिक अव्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वास पर बढ़िया चुभता हुआ व्यंग्य करती हैं। तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्बोधनात्मक और हल्की हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी चन्दना', 'रवीन्द्र के प्रति', 'सिन्दूर तिलकित

भाल', 'तुम्हारी दन्तुरित मुसकान', आदि कविताएँ प्रगतिवादी काव्य की निधि हैं। 'काव्यधारा' संग्रह प्रकाशित है। नागार्जुन ने अपने गाँव के वातावरण को लेकर अनेक सुन्दर कविताएँ लिखी हैं—

"याद आता मुझे अपना वह तरउनी ग्राम,
याद आतीं लोचियाँ और आम····· ।"

शिवमंगल सिंह 'सुमन' की भी दो तरह की कविताएँ दिखाई पड़ती हैं। एक तो वे जो गीत हैं या छोटी-छोटी सुगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे जो अधिक लम्बी-लम्बी और उपदेशात्मक हैं। उनके गीतों में प्रेम और प्रकृति की सफल व्यंजना है। उनकी लम्बी कविताओं में जन-जागरण का कोई न कोई ज्वलंत पक्ष वर्णित होता है या सामाजिक अभाव के चित्रण के साथ क्रान्ति की गर्जना होती है। उनके गीत और छोटी-छोटी कविताएँ जहाँ कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखती है, वहाँ बड़ी-बड़ी कविताएँ अधिक स्थान घेर लेती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है, क्योंकि उन प्रभावों को व्यक्त करने का माध्यम ध्वन्यात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक होता है। 'निराला के प्रति'—कविता बड़ी होकर भी आद्योपान्त गठी हुई है और बड़ी सशक्त है। 'कितनी बार तुम्हें देखा' ढंग के गीत भी बहुत सफल हैं। 'एशिया जाग उठा है' प्रभावशाली उद्‌बोधनात्मक लम्बी कविता का उदाहरण है। 'सुमन' जी की कविताओं में अभिधा शक्ति का प्रयोग अधिक है जो अनेक स्थलों पर कविता को सपाट बना देता है। 'जल रहे हैं दीप जलती है जवानी' कविता में बड़ी ही शक्ति है; ताज़गी भी खूब है किन्तु बड़ी होने के नाते इसमें चित्रों और भावों का संयम नहीं रह गया है। 'प्रलय-सृजन', 'विश्वास बढ़ता ही गया'—इनके काव्य संग्रह है।

त्रिलोचन बड़े ही प्रतिभाशाली कवि हैं। कविताओं में बड़ी ही सादगी है और हर कविता में भूमि की सोंधी गन्ध मिलती है। कविताएँ आकार में छोटी होकर भी प्रभावशाली होती हैं। त्रिलोचन ने स्वयं संघर्ष किया है, इसलिए इनकी कविताओं में दैन्य-अभाव और संघर्षों का सही चित्र प्राप्त होता है तथा संघर्ष-जन्य एक अटूट विजय और शक्ति से इनकी कविताएँ ओत-प्रोत होती हैं। त्रिलोचन ने सदैव मनुष्य के रागात्मक पक्ष पर ध्यान रखा है। इनकी कविताओं में न व्यर्थ की भरती है और न सस्ता उद्‌बोधन। कहीं-कहीं ये बौद्धिकता के आधिक्य या संवेदना की क्षीणता के कारण रूखी और वेगहीन अवश्य हो गई

हैं। इनकी प्रारम्भिक कविताएँ 'धरती' में संगृहीत हैं। इधर इन्होंने ढेर से 'सानेट' लिखे हैं

"आज मैं अकेला हूँ, अकेले रहा नहीं जाता,
जीवन मिला है यह, रतन मिला है यह,
धूल में कि फूल में, मिला है तो मिला है यह,
मोल तोल इसका, अकेले कहा नहीं जाता,
ओखी धार दिन की, अकेले बहा नहीं जाता।"

मुक्तिबोध भी बड़े ही सशक्त कवि हैं। रोष की तिक्तता और प्रेम की मृदुता दोनों का मनोहर प्रसार उनकी कविताओं में दृष्टिगत होता है। इनका सौन्दर्य-बोध बड़ा ही जाग्रत है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कभी-कभी प्रयोगवादी हो उठते हैं और तब जटिलता की सृष्टि हो जाती है। 'सहर्ष स्वीकारा है' जैसी कविताएँ उत्तम कविताएँ है।

भारतभूषण अग्रवाल भी कला के माध्यम से प्रगतिशील दृष्टिकोण और जन-संवेदना मुखर करने में कुशल हैं। इनकी संवेदना और विषय-बोध बहुत व्यापक नहीं हैं। इनमें रागात्मक वेग भी नहीं है, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में ये अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं। अग्रवाल जी सफल व्यंग्यकार भी हैं। इनकी व्यंग्य-कविताएँ बड़ी छोटी-छोटी और चुभती हुई होती हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र दृष्टिकोण से प्रगतिवादी न हों किन्तु उनकी संवेदनायें इतनी मानवीय हैं कि वे प्रगतिशील कविता के समूचे वर्ण्य-विषय के क्षेत्र को घेर लेती हैं। सीधे-सादे बोल-चाल के ढंग से ये बड़ी से बड़ी बात कह जाते हैं। इनकी 'गीत फरोश' कविता बड़ी ही व्यावहारिक पद्धति पर लिखी गई एक सफल कविता है। ऊपर-ऊपर उसमें विनोद का खासा पुट है किन्तु भीतर-भीतर बड़ा दर्द है। 'पी-के फूटे आज प्यार के' लोक-गीत शैली में लिखा गया बड़ा ही ताजा, सजीव और प्यारा गीत है। उसमें लोक जीवन का उल्लास मुखर है।

इन कवियों के अतिरिक्त हम अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह, नेमिचन्द्र जैन, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, अजित-कुमार आदि के नाम ले सकते हैं, जो मूलतः प्रयोगवादी हैं किन्तु कभी-

कभी इनकी कलम प्रगतिशील कविताओं की रचना करती भी दिखाई दे जाती है।

प्रगतिशील कविता का निरन्तर विकास हो रहा है। अर्थात् वह अत्यधिक व्यापक और संवेदनशील होती जा रही है। वह अधिकाधिक मानवीय होती जा रही है। उसकी अभिव्यक्ति पद्धति भी अधिक सशक्त और कलात्मक होती जा रही है। प्रगतिशील कविता की नयी प्रवृत्ति यह लक्षित हो रही है कि वह अधिकाधिक लोक-गीतों की भाव-सम्पत्ति और स्वर-सम्पत्ति को अपनाती जा रही है। भाव व्यक्त करने का ढंग अधिकाधिक ध्वन्यात्मक होता जा रहा है। लोक-गीतों के छन्दों को खड़ीबोली में ढालने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस दिशा में किये गये प्रयासों में ठाकुर प्रसादसिंह के संथाली गीतों के अनुवाद, केदारनाथ सिंह के गीत और कुछ ऐसी ही और रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में इन पंक्तियों के लेखक ने भी छोटे-मोटे प्रयास किये हैं।

नई पीढ़ी के स्वस्थ प्रगतिशील कवियों में ठाकुर प्रसादसिंह, दुष्यंतकुमार, केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, राजेन्द्रकिशोर, राजेन्द्र यादव आदि के नाम लिये जा सकते हैं। प्रगतिशील कविता ने अपनी परंपरा के अनुकूल ही नवीन समस्याओं को समयोचित स्वर दिया है। शान्ति की समस्या इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। शान्ति पर सभी कवियों ने बड़ी तन्मयता से कलम चलाई है। मानवता का पक्ष समुन्नत करने वाले राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जागरणों का साथ सदैव प्रगतिशील साहित्य ने दिया है और उसे कुरूप बनाने की कोशिश करने वाली शक्तियों पर हमेशा प्रहार किया है। आज के प्रगतिशील कवि मनुष्य की समस्त संवेदनात्मक निधि को अपनाने की कोशिश कर रहे हैं। साथ ही साथ हमारी सामाजिक, आर्थिक विषमताओं पर व्यंग्य भी कर रहे हैं। स्वतन्त्रता मिली किन्तु सामान्य जनता का विशेष हित नहीं हुआ। दयनीय अवस्था की समस्याएँ ज्यों की त्यों हैं। प्रगतिशील कवि का ध्यान इन सरकारी व्यवस्था की कमोरियों और अधिकारियों की स्वार्थी मनोवृत्ति पर आघात करने की ओर भी है।

खेद है कि प्रगतिशील कविता जिन तंग घाटियों से गुजर कर उनकी संकीर्णताओं और खामियों को पहचान चुकी है और उन्हें छोड़ कर विस्तृत भू-भाग में आ गई है, उन्हीं तंग घाटियों की संकीर्णताओं को कुछ कवि-

सम्मेलनी प्रगतिशील कवि ललकारों में बाँध रहे हैं और कुछ समान-धर्मा-आलोचक और सम्पादक डंके की चोट उन्हीं को सच्चा प्रगतिशील कवि घोषित कर रहे हैं। किन्तु संतोष है कि प्रगतिवाद की सच्ची विरासत इनके हाथ में न होकर निरन्तर विकासशील कलामर्मज्ञ कवियों के हाथ में है।

: ६ :

हिन्दी लोक-गीतों में सामाजिक जीवन

कहा जाता है कि गीत कवि की आत्माभिव्यक्ति होते हैं। यह कथन अधिक अंशों तक सत्य है, यदि सही तरीके से समझा जाए। आत्माभिव्यक्ति की सीमारेखा कवि के व्यक्तित्व के अनुसार संकीर्ण भी हो सकती है और व्यापक भी। लेकिन यह संकीर्ण आत्माभिव्यक्ति की सीमा साहित्यिक गीतों में ही मिल सकती है। (लोक-गीत कवि की अहंता से आच्छादित होकर वैयक्तिक सुख-दुःख की परिधि में ही नहीं चक्कर काटते, वरन् वे लोक-जीवन की व्यापक और गहरी संवेदना से संपृक्त दुःख-दर्दों को स्वर देते हैं।) आप साहित्यिक गीतों पर एकांगिता और वैयक्तिक प्रणय-निवेदन की सीमित भावना का दोषारोपण कर सकते हैं, किन्तु आप इन लोक-गीतों में समाज के विविध सम्बन्धों—आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सम्बन्धों—की सशक्त विवृति पायेंगे। लोक-गीतों में इन विविध एवं व्यापक सामाजिक सम्बन्धों का रूप देखने के पहले हमें उस आधारभूत सिद्धान्त की विवेचना कर लेनी चाहिए जिसके कारण साहित्यिक गीतों और लोक-गीतों में यह अन्तर उपस्थित हो जाता है।)

साहित्यिक गीतकार प्रायः उस मध्यम वर्ग का होता है जो अपने अनेक आभिजात्य संस्कारों से कसा हुआ है। उसकी आर्थिक नींव हिल रही है, लेकिन उसके बूर्ज्वा संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ते। वह आभिजात्य संस्कारों से सहज प्रसूत अहं का उत्तराधिकार अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है और आर्थिक स्थिति के कमजोर होने पर वह अन्यान्य माध्यमों—जैसे शिक्षा-दीक्षा, कला आदि—से क्षतिपूर्ति की कोशिश करता है। एडलर का क्षतिपूर्ति का यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मानव मात्र पर लागू होता है या हो सकता है किन्तु मध्यम वर्ग कुछ अपनी वर्गीय विशेषताओं के कारण इस सिद्धान्त से अधिक प्रभावित होता है। और, इस प्रकार जब मध्यम वर्गीय व्यक्ति कलाकार हो उठता है तो वह अपनी वर्गीय चेतना और नवीन मानवीय चेतना के द्वन्द्व से प्रताड़ित होता है। मतलब यह कि वह एक कलाकार के नाते अपने वर्ग के अन्य मनुष्यों

की अपेक्षा अधिक जागरूक, उदार और नवीन मानवीय चेतनाओं को समझने-बूझने में सचेत रहता है। दूसरी ओर वह अपने मध्यम वर्गीय अहं की—मैं इतर सामान्य प्राणियों से बड़ा हूँ, इस चेतना की—खोल के भीतर तड़पता है। मध्यम वर्गीय कलाकार इस प्रकार बौद्धिक रूप से मानवीय और सामाजिक चेतनाओं के प्रति जागरूक होकर भी उनसे मानसिक तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। किन्तु जो मध्यम वर्गीय कवि अत्यन्त प्रतिभाशाली और मानवीय करुणा से अभिभूत होते हैं और जिनको नवीन सामाजिक दृष्टि प्राप्त रहती है और अपनी वर्गीय सीमा से बाहर निकलकर संसार का सच्चा स्वरूप देख पाते हैं, वे उच्चकोटि के कलाकार होते हैं, उनकी कला में जीवन बोलता है, समाज बोलता है, मानवता बोलती है। वर्तमान युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हम उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। छोटे कवियों की अनेक सीमाएँ होती हैं। वे वर्गीय अहं से पराभूत रहते हैं। वे स्वच्छ दृष्टि से दुनिया को देख नहीं पाते। यदि देखते हैं तो केवल दृष्टिकोण से, सिद्धान्त से, हृदयसिक्त छलछलाती आँखों से नहीं। उसका परिणाम यह होता है कि उनकी कविताओं के वर्ण्य-विषय सीमित रहते हैं, और सीमित में भी प्रायः वैयक्तिक सफल-असफल प्रेम का दुःख-सुख ही व्यंजित होता है। फ्रायड के अनुसार ऐसे जटिल समाज में व्यक्ति की काम-वासना दमित होकर ग्रंथियों के रूप में अवचेतन में अवस्थित हो जाती है और वह व्यक्ति यदि कवि हुआ तो कविताओं में उन्हीं को स्वर देता है। यदि उस कवि ने दृष्टिकोण या सिद्धान्तों के माध्यम से काव्य के वर्ण्य-विषय का विस्तार कर लिया है तो बहुत संभव है कि उसमें जीवन की वास्तविकताएँ स्थूल रूप से चित्रित होंगी, क्योंकि कवि का उन वास्तविकताओं से अनुभूतिमूलक सम्बन्ध नहीं है।

लोक-गीतकार सामान्यतः उस वर्ग का प्राणी होता है जो इस प्रकार आभिजात्य संस्कारों और तज्जन्य अहं से पीड़ित नहीं है। और, जो विपण्य तो है किन्तु उसमें बाह्य प्रदर्शन की भावना नहीं है। मिथ्या संकोच, झिझक और थोथी मर्यादाओं का घटाटोप उस पर नहीं छाया हुआ है। इस वर्ग का प्राणी बाहर-भीतर एक है। उसमें कुंठाएँ नहीं हैं, हैं भी तो कम। वह उस विशाल जन-समुदाय का अभिन्न अंग है जो सदियों से अभिजात वर्गों के शोषण-चक्र में पिसता आया है। इसीलिए लोक-जीवन का कलाकार एक तो कुंठावादी प्रेम-

काव्य की रचना नहीं करता, दूसरे वह जन्म से ही विशाल जन-समुदाय का एक अभिन्न व्यक्ति होने के नाते उसके दुःख-दर्दों को भोगता है, उसकी वास्तविक समस्याओं, पीड़ाओं और उल्लासों का निकट से अनुभव करता है। इसीलिए जब वह कुछ लिखता है तो उसकी कविता में जैसे उसका पूरा समाज बोलता है। उसमें अनुभूति की व्यापकता और गहराई होती है। उसमें अहं की कृत्रिम सीमाएँ नहीं होतीं। इसीलिए आप पायेंगे कि लोक-गीतों में कवि का महत्त्व नहीं, कविता का महत्त्व है। वे लोक-गीत घर-घर में गाये जाते हैं किन्तु कितने लोग उन लोक-गीतकारों के नाम जानते हैं? हो सकता है कि इसका एक कारण इनका अलिखित होना भी हो। किन्तु यह बाहरी कारण है।

मध्यम वर्ग और सामान्य निम्न वर्ग कह कर मैं कोई एक स्थिर और रूढ़ रेखा नहीं खींचना चाहता। मध्यम वर्ग से मेरा तात्पर्य सामान्यतः उस वर्ग से है जो अपनी विशेष शिक्षा-दीक्षा, सम्पत्ति, गर्व, जात्याभिमान आदि के कारण छोटी जातियों, अपढ़ों और निर्धन लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है। कहीं-कहीं ये समस्त विशेषताएँ किसी वर्ग में रहती हैं और कहीं-कहीं एकाध। जिस अनुपात में ये रहती हैं उसी अनुपात में अहं भी बलवान होता है। गाँवों में भी मध्यम वर्ग की ब्राह्मण, क्षत्री आदि जातियाँ बसती हैं, किन्तु आज उनका खोखला जात्याभिमान ही बाकी है, इसलिए वे जातीय दंभ से अभिभूत होकर भी शिक्षित वर्ग और धनी वर्ग के सामने अपने को हीन और प्रताड़ित समझते हैं और वे अपने को कोटि-कोटि हीन जातियों की जनता से भिन्न नहीं कर पाते। तात्पर्य यह कि साहित्यिक गीतकार प्रायः शिक्षित (और चूंकि उच्च शिक्षा की सुविधा अभी मध्यम वर्गों को ही प्राप्त है और रही है इसलिए) मध्यम वर्गीय और अहंकारी होता है, वह सामान्य जनता की आवश्यकताओं से सुपरिचित, नहीं होता, न ही वह अपना साहित्य जनता की भाषा में लिखता है। इसलिए अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों दृष्टियों से सामान्य जनता के भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। लोक-गीतकार सामान्यतः सामान्य जनता के बीच का होता है। वह जनता की पीड़ा भोगता है और अशिक्षित या अल्पशिक्षित होने के नाते सीधे-सीधे जनता की भाषा में लिखता है। इसलिए उसके गीत जनता के जीवन के अंग बन जाते हैं।

अब हम अपने मूल विषय पर आयें। लोक-गीतों में लोक-गीतकार समाज

के विविध पक्षों का मार्मिक चित्र उपस्थित करता है। लोक-गीतों में अभिव्यक्त भावधाराओं के भी दो पक्ष होते हैं—एक तो जीवन के चिरन्तन सम्बन्धों की मार्मिक अभिव्यक्ति, जो वर्ग और काल की सीमाएँ तोड़ कर अबाध निर्झर की तरह बहती आ रही है, और दूसरे सामान्य जनता से सम्बद्ध उन विविध सामायिक और वर्गीय समस्याओं का उद्‌घाटन, जो कलाकारों की चेतना को झकझोरती हैं।

चिरन्तन सामाजिक चेतना में हम मुख्यतया नर-नारी के सम्बन्धों—विशेषतया वैवाहिक सम्बन्धों, पारिवारिक सम्बन्धों—बच्चों और माँ-बाप के सम्बन्धों आदि को ले सकते है। इन संबन्धों में मूल चेतना एक है किन्तु उनके बाह्य स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। थोड़े-थोड़े भिन्न बाह्य स्वरूपों में अभिव्यक्त एक मूल चेतना के गीत प्रायः सभी वर्गों में गाये जाते हैं। वैवाहिक सम्बन्ध सभी जातियों और वर्गों का महत्वपूर्ण उत्सव है। इस उत्सव में अनेक छोटे-छोटे आयोजन सम्मिलित हैं। बेटी सयानी हो गई है; माँ-बाप को वर खोजने की चिन्ता होती है। लेकिन इस समाज में कहाँ इतनी आसानी से वर मिल पाता है ? बाप वन-वन छानता हुआ वर ढूंढ़ता है। वर मिलता है तो लेन-देन की समस्या। खैर सब ठीक-ठाक होता है तो तिलक चढ़ता है और उसी समय माँ-बाप का एक बोझ उतर जाता है किन्तु हाय रे माँ-बाप का हृदय ! एक बोझ से हल्का होकर दूसरे बोझ से लद जाता है। इतने दिनों तक स्नेह के हाथों पाली पोसी हुई बेटी परायी हो रही है, क्या यह कम दर्दनाक घटना है ? इन समस्त आयोजनों और मानसिक घात-प्रतिघातों को आप किसी विवाह के घर पर बैठ कर गीतों में सुनते जाइये। बेटी पति के साथ विवाह का भांवर दे रही है। अब सातवीं भाँवर पड़ रही है। आह री यह सातवीं भाँवर ! बेटी बाप की नहीं रही। सुनिये लोक-गीत की कैसी धुन उठ रही है—

"सातवी भँवरिया ए बाबा !
हम नाहीं रहलों तुहार।"

सारा वातावरण दर्द से काँप रहा है। किन्तु नर-नारी का सम्बन्ध भी तो जीवन की मूल्यवान घटना है; इस दर्द में उत्साह भी है। और लोक-गीत इस दर्द के साथ उस उत्साह की अभिव्यक्ति अनेक स्वरों में कर रहा है। लोक-हृदय पहचानने वाले तुलसी द्वारा वर्णित सीता का अव्यक्त आनन्द देखिये—

"राम को रूप निहारति जानकी कंगन के नग की परछाई।"

यह सम्बन्ध इतना उल्लासप्रद और मनोहर है कि उसके प्रभाव से सारा वातावरण गीतमय हो उठता है। लोक-गीतों में दूल्हा, ससुर, देवर और सारे बारातियों के लिए प्यार भरी गालियाँ या गालियों भरा प्यार बरसता है। इस अखण्ड उल्लास के बीच सिहरता हुआ दर्द अभी मौन है। भिनसार होता है। बेटी विदा होती है। कल्पना कीजिए वियोग से छटपटाते हुए परिवार की—

"बहरे बवइया रोवे, भीतरी मयरिया रोवे
डोलिया क बांस धैले भइया रोवें
बहिनी पराई भइली।"

(बाहर बाप रो रहा है, भीतर माँ रो रही, है डोली का बाँस पकड़कर भाई रो रहा है कि बहिन पराई हो गई)। लेकिन इससे क्या, वर को तो वधू पाने का उल्लास है। उसी दर्द के पास उल्लास फूट रहा है—

"घोड़े पर से बोलेलें दुलहेराम
अड़पि तड़पि बोलें
छोड़ सारे डोलिया क बँसवां त
बहिनी हमार भइली
बहरे बवइया हँसे,
भीतरें मयरिया हँसे,
आज मोर धियना आनन्द भइलें
पूत से पतोहिया अइली।"

—एक ओर बेटी के परिवार की और दूसरी ओर वर के परिवार की स्थितियों की तुलना कर कैसा विचित्र प्रभाव पैदा किया गया है! बेटी घर छोड़कर चली गई। लेकिन उसकी स्मृति माँ-बाप का हृदय छोड़े तब तो! स्नान के समय बाप, सोने के समय माँ, कलेवे के समय भाई और रसोई में नमक छोड़ने के समय भाभी का हृदय चीत्कार कर उठता है "ओ घर में की बेटी तुम कहाँ गई हो" की पुकार सुनाई देती है—

"बाबा जे रोवें लें जूनी जूनी जब नहाये के बेरियां
घर में क बेटी कहां गइलू हो देतू धोतिया से डोर
माई जे रोवे ली जूनी जूनी जब सोवे क जुनियां
कोरवा क बेटी कहां गइलू हो कइलू कोरवा तू सून।"

उधर बेटी ससुराल पहुँच गई है। उल्लास की सीमा नहीं। अनेक आनन्द पूण आयोजन गीतों की धारा में तैरते हैं। किन्तु सबसे सुखमय क्षण तो वर-वधू के जीवन के हैं। संयोग शृंगार का मादक अरुणोदय है। वर-वधू रात भर जागते रहे हैं, शायद रात के अन्तिम पहर में उन्हें प्यारी प्यारी नींद आ गई है। माँ जगाती है, बहन जगाती है, भाभी जगाती है किन्तु वर को तो यही ज्ञात होता है कि अभी-अभी वह सोया है, अभी आधी रात हुई है, और वह सबको मीठी मीठी गाली देकर कहता है—

"एक त सुहागे क रात दूसरे नई नींनिया
एइसन'''''मुगल घेर जइतीं
आधीरात बोलें भिनसार।"

(एक तो सुहाग की रात, दूसरे नई नींद है, ऐसी-माँ या बहन या भाभी मुगल घर जाएँ कि आधी रात को ही भिनसार बता रही हैं।)

संयोग की मादकता के चित्र कम मिलते हैं, अपेक्षाकृत वियोग शृंगार के अधिक है। वियोग शृंगार हमारे समाज की अनेक विवशताओं—मुख्यतया आर्थिक विवशता—का परिणाम है। उसमें स्वतः हृदय को हिलाने की अपार शक्ति तो है ही, वह शक्ति परिस्थितिगत विवशता पाकर और भी तीव्र हो उठती है। वियोग शृंगार तो कजली, होली, चैता आदि अनेक प्रभावोत्पादक रागों में भरा पड़ा है। बादल घिरे है किन्तु पति नहीं आया। हाय, ऐसे सुहाने मौसम में अकेले रहा नहीं जाता। किन्तु लगता है उसे कोई पीड़ा नहीं हो रही है। इसलिए हे बदली ! तुम वहीं जाकर बरसो जिससे वे घर आयें—"बदली जाइ बरिस ओहि देस जहां हरि छावें।"

हरि आते हैं और क्रमशः लोगों से अपनी पत्नी के बारे में पूछते हैं कि कहो कैसी है ? कुछ तो उसकी प्रशंसा करते है किन्तु कुछ निन्दा। हरि जब पत्नी के घर में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं वह छिन्नलतिका-सी मरी पड़ी है। हरिणी और हरिण के विछोह वाला गीत, लोक-गीतों की अपार संवेदनशीलता और मानवीयता का परिचायक है।

बालकों के जन्म के प्रति हर्ष और उनके साथ माता-पिता के स्नेह-व्यवहार, मानव जीवन के मार्मिक चिरन्तन सत्य है। इन विषयों के प्रति अनेक सुन्दर लोक-गीत आपको मिलेंगे। बालक-जन्म के अवसर पर अनेक स्त्रियाँ समवेत

स्वर में गाकर नये जन्म का स्वागत करती हैं। हमारे समस्त छोटे-बड़े मांगलिक कार्य लोक-गीत से ही सम्पन्न होते हैं।

लोक-गीत हमारे सामूहिक वैवाहिक आनन्दों के चितेरे मात्र नहीं हैं, ये बड़ी निर्भयता से हमारे पारिवारिक-सामाजिक दोषों और विवशताओं को भी चित्रित करते हैं। उनमें हमारे परिवार और समाज की सामाजिक कुरूपताओं तथा आर्थिक विषमताओं एवं संघर्षों के रूप मिलते हैं। ऊपर हमने विवाह का प्रसंग उठाया था, विवाह के अवसर पर अनेक घृणित और संहारकारी सामाजिक प्रथाएँ लक्षित होती हैं। दहेज की प्रथा, वर ढूंढ़ने की परेशानी, बारात वालों का लड़की वालों को तंग करना, दहेज न पाने पर या पाने पर भी लड़के के परिवार वालों का लड़की को बार-बार कोसना, उसे तुच्छ समझना आदि हमारे परिवार और समाज की कुरूपताएँ हैं। इन्हें आप लोक-गीतों में अच्छी तरह से ध्वनित पायेंगे। बेटी का जन्म ही जैसे हमारे परिवारों के लिए अभिशाप है। उसके जन्म पर मातम मनाया जाता है।

यदि हम गहराई से विचार करें तो इन अनेक समस्याओं और विकृतियों के मूल में आर्थिक बेबसी है। एक हिन्दू परिवार की बहू का करुणा-चित्र देखिये। उसका भाई उसकी ससुराल आया हुआ है। लड़की की सास लड़की से कहती है कि भाई को बैठने के लिये टूटी खाट दो, मिट्टी के फूटे बरतन में पानी पीने को दो, अँकरे की दाल खाने को दो। जब भाई बहन से समाचार पूछता है तो वह अपने परिवार की स्थिति और उसमें अपनी स्थिति का बड़ा ही करुण चित्र खींचती है—"सास तो बूढ़ी डोकरी है, आज मरे या कल; जेठानी काली बदरी है, क्षण बरसती है क्षण घाम करती है, देवरानी कोने की बिल्ली है, क्षण निकलती है क्षण पैठ जाती है; ननद तो वन की कोयल है, आज उड़े या कल।"

इस अद्‌भुत चरित्र-चित्रण के पश्चात् गीत बहू की दयनीय स्थिति पर आ टिकता है—

"मूड़ देख हे भइया मूड़ देख,
जइसे कुकुरिया क पूँछ।
पीठ देख ए भइया पीठ देख,
जइसे कि धोबिया क पाट।

नव मन कूटीं भइया, नव मन पीसीं,
नव मन सीझेलीं रसोइ,
पिछली-टिकरिया भइया हमार भोजनिया
ओहू में कुकुर बिलारि ।"

(मूड़ तेल साबुन के अभाव में कुत्ते की पूंछ-सा हो गया है, पीठ धोबी के पाट सी। नौ मन कूटने-पीसने और पकाने पर भी पिछली टिकरिया भोजन के रूप में मिल पाती है; उसमें कुत्ते, बिल्ली साझीदार हो जाते हैं।)

—और गीत का अन्त तो दर्द का भी दम तोड़ देता है। आह ! वह अपना दर्द भी नहीं कह पाती, कैसी बेबसी है ? कहती है—हे भाई, यह मेरा दर्द बाप से मत कहना, क्योंकि वे भरी सभा में मुरझा जायेंगे। माँ से मत कहना, वह छाती फाड़ कर मर जायेंगी। भाभी से मत कहना, वे दो-चार घर बाँट आयगी। हे भइया, यह मेरा दुःख तुम अपनी पाग में बाँध लो, कभी-कभी खोल कर रो लेना।

नारी अनादि काल से पुरुषों के शोषण की सामग्री रही है। उसका बाँझ (वन्ध्या) होना मृत्यु से भी कष्टकर है। एक वन्ध्या परिवार की ताड़नाओं और समाज के लाँछनों से आहत होकर बाघिनी से कहती है "तू मुझे खा जा।" बाघिनी कहती है—"तुझे खाने पर मैं वन्ध्या हो जाऊँगी।" गंगा से कहती है "तू अपनी लहरों में मुझे समेट ले।" गंगा उत्तर देती है—"मैं रेत बन जाऊँगी।" धरती से कहती है, "माँ धरती ! तू अपने अंक में मुझे समा ले।" धरती कहती है, "मैं ऊसर बन जाऊँगी।" वह वन्ध्या नारी के भाग्य की तरह भटक रही है।

आर्थिक विवशता के प्रति ये लोक-गीत बहुत सजग हैं। साहित्यिक गीतकार जहाँ विरह को शुद्ध-शाश्वत भाव तक सीमित रख छोड़ते हैं और उसके परिपार्श्व की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते, शुद्ध सौन्दर्य बोध, शुद्ध मानवीय भाव की दुहाई देते हैं, वहाँ लोक-कवि स्पष्ट पहचानता है कि यह विरह आर्थिक संकट का सहज परिणाम है। इस प्रकार वह एक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की कमज़ोरी की ओर संकेत करता है—

"रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी,
पइसवा बैरी हो।
दर दर पियवा भटकावे,
पइसवा बैरी हो।"

—एक वधू प्रियतम को पाती लिखती है कि मुझे गहना बनवा दो, मुझे अपनी बहन की शादी में घर जाना है। प्रियतम मजदूर है, रिक्शा हाँकता है। उसके मन में यह ललक है कि उसकी पत्नी गहनों से सज-धज कर अपने मायके छमा-छम करती उतरे। लेकिन अभी पैसे नहीं हैं, लिखता है—

"गोरिया धीरज धरु अबकी अगहनवाँ ले।"

आज अनेक लोक-गीतकार ऐसे हैं, जो समाज की आर्थिक विवशताओं के चित्र दे रहे हैं, जो सामाजिक सम्बन्धों की कुरूपताओं पर प्रहार कर रहे हैं, जो नये समाज-निर्माण का स्वर ऊँचा कर रहे हैं, जो किसानों-मजदूरों की पीड़ाओं, संघर्षों और उनकी भावी निर्माण की समस्याओं को व्यक्त कर रहे हैं।

लोक-गीतों में राजनीतिक चेतना का भी अभाव नहीं है। लोक-गीतों में आप कांग्रेस के संघर्ष का इतिहास पा सकते हैं, जन-जागरण का स्वर सुन सकते हैं, राष्ट्रीय संग्राम की प्रत्येक घटना उनमें गरज रही है। राष्ट्रीय युद्ध के सेनानियों और शहीदों की गाथा उनमें देख सकते हैं। गांधी जी की दिवंगत आत्मा के प्रति चीत्कार और श्रद्धांजलि की समवेत ध्वनि सुन सकते हैं और आज की जनता की गरीबी और सरकारी अव्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश उनमें आपको दिखाई पड़ेगा।

भारतीय जीवन में आनन्दवादी दृष्टिकोण ही प्रधान रहा। अतः यहाँ अनेक त्योहारों और पर्वों की कल्पना की गई। इन त्योहारों और पर्वों के अवसर पर जनता सामूहिक उत्साह के गीत तो गाती ही है, मानवीय रागात्मक भावों का समवेत गान तो उठता ही है, साथ ही साथ धार्मिक अनुष्ठान भी होते हैं, जिनमें मंगलाचरण के रूप में धार्मिक गीत गाये जाते हैं शादी-विवाह, जन्म, जनेऊ आदि में यही मंगलाचरण वाला रूप लक्षित होता है किन्तु कथा, यज्ञ-होम, रामनवमी, विजय-दशमी, ग्रहण, कातिकी-माघी-नहान आदि अनेक अवसरों पर जनता धार्मिक गीत गाती है, राम आदि दैवी पुरुषों की गाथाएँ याद करती है। गंगा, यमुना, सरयू आदि नदियों और अनेक तीर्थ स्थानों की महिमा गाती है। देवी भवानी की कीर्तियाँ गीतों में स्मरण करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-गीत लोक-जीवन के अनेक सामाजिक पक्षों को अपने स्वर-प्रवाह में आत्मसात करते रहते हैं। उनमें परम्परा भी है, प्रगति भी। वे हमारे जीवन के हर मार्मिक क्षण के, हमारे दुःख-सुख के प्रत्येक स्पन्दन के साक्षी हैं।

: ७ :

हिन्दी साहित्य में हास्य-व्यंग्य

जीते तो सभी हैं या सबको जीना ही पड़ता है, लेकिन सामाजिक पीड़ाओं और जीवन की विषमताओं को जो अपनी हँसी में पीकर जीता है, उसी को जीने की वास्तविक कला मालूम है। हास्य से शरीर और आत्मा दोनों की शक्तियों का विकास होता है। इसीलिए जीवन का ध्वनन करने वाले साहित्य में भी हास्य-व्यंग्य की महत्ता स्वयं सिद्ध है। किन्तु हास्य का तात्पर्य यह नहीं कि जीवन की गहनतम समस्याओं और निगूढ़ मर्मों को समझने का प्रयत्न न करते हुए निपट मूर्ख की तरह अनावश्यक हँसते-हँसाते जाओ। जीवन और जगत् की अतल गहराइयों में स्थित सत्यों का स्वरूप समझकर, उनके विविध सुखात्मक और दुखात्मक रूपों को भोगते हुए जो हँसने का मंत्र सीख लेता है, उसी का हास्य सार्थक होता है।

भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुकूल कुछ साहित्यकार जीवन के व्यापक परिवेश में हास्य-व्यंग्य की सृष्टि करते हैं, कुछ केवल हास्योत्पादक जीवन-प्रसंगों को ही लेते है। उद्देश्य और विषय के आधार पर हास्य-व्यंग्य की कुछ श्रेणियाँ हो जाती हैं। हास्य का उद्देश्य कहीं-कहीं केवल लोगों के मन को गुदगुदा कर थोड़ी देर के लिए प्रफुल्ल कर देना होता है। यहाँ हास्य का उद्देश्य हास्य ही होता है। किसी की विचित्र वेश-भूषा, किसी की अटपटी बात, असंगत वस्तु-विन्यास, विचित्र भंगिमा और व्यापार आदि देख कर हमारे भीतर एक हँसी फूट पड़ती है। यह हँसी उपर्युक्त असंगतियों के तीव्र-मन्द वेग के अनुसार ही तीव्र-मन्द होती है, कभी स्मित बन कर रह जाती है, कभी अट्टहास तक चढ़ जाती है। मण्डलियों, लीलाओं आदि में जोकरों की अटपटी लीलाएँ इसी प्रकार के निरुद्देश्य हास्य की सृष्टि करती हैं। विभिन्न संस्कारों के पाठकों और दर्शकों पर भिन्न-भिन्न स्तरों की असंगतियाँ भिन्न-भिन्न प्रभाव छोड़ती हैं। बहुत फूहड़ किस्म की अटपटी बातों और स्वांग से निम्न स्तर के लोगों का मनोरजन हो सकता है किन्तु संस्कारी पाठक या दर्शक शीघ्र ही ऊबने लग जायेगा। उसके हास्य की

सृष्टि के लिए बड़ी ही सुरुचिपूर्ण असंगति की आवश्यकता होती है। उच्चकोटि के साहित्य में इसी प्रकार के हास्य की सृष्टि होती है। जैसे पद्माकर की एक कविता में कृष्ण को ललिता (राधा की सखी) राधा की पोशाक पहना रही है और राधा कृष्ण की इस नयी छवि को देखकर मुंह पर आँचल देकर हँस रही है—

"लागी जबै ललिता पहिरावन स्याम को कंचुकी केसर बोरी,
हेरि हरा मुसकाइ रही अँचरा मुख दै वृषभान-केसरी।"

संस्कृत साहित्य में जो हास्य की व्यंजना हुई है वह मुख्यतः इसी प्रकार की है। वह इतना निश्छल हास्य होता है कि किसी को उससे चोट नहीं पहुँचती। भगवान् शंकर असंगतियों के पुंजीभूत रूप हैं। मंगल धाम शंकर जी अमंगल वेश धारण किये हुए हमारी हँसी के एक प्रधान आलम्बन रहे है। यदि हम तत्कालीन काव्यों में चित्रित हास्य का विचार करें तो देखेंगे कि नाटककारों ने जीवन-व्यापारों की असंगतियों और विषमताओं के द्वारा नहीं बल्कि विदूषकों की अटपटी बातों से हास्य पैदा किया है। ये विदूषक केवल हँसाने के लिए ही आते हैं। ये राजाओं के अन्तरंग होते हैं और जैसे राजाओं को अपने मनोरंजन के लिए विविध प्रकार के सामान और व्यक्ति चाहिए, उसी प्रकार हँसाने के लिए भी विदूषक चाहिए। ये विदूषक प्रायः ब्राह्मण हैं और इनका पेटू होना ही हास्य-सृष्टि का मूल कारण है। ये सर्वत्र अपने खाने-पीने की स्थूल बातें करके लोगों को हँसाया करते हैं।

संस्कृत में गम्भीरता और हास्य अनुस्यूत भाव से नहीं मिलते। दोनों के अस्तित्व अलग-अलग हैं और अपेक्षाकृत मात्रा में कम हैं। यह विचित्र बात है है कि आनन्दवादी भारतीयों ने हास्य रस के चित्रण की ओर कम ध्यान दिया। बात यह थी कि भारतीय आनन्दवादी होने के साथ ही साथ आध्यात्मिक आदर्शवाद को स्वीकार करके चलते थे, इसीलिए उनके साहित्य में जीवन की गहनता का जितना चित्रण है उतना हास्य का नहीं। दूसरी बात यह कि उन्होंने जीवन के आनन्द पक्ष का चित्रण शृंगार में किया। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में एक बड़ी अच्छी बात यह हुई कि हास्य का स्वरूप भी विकसित हुआ और मात्रा भी प्रचुर हुई। "हास्य का उद्देश्य हास्य है और हास्य व्यक्ति की ऊपरी असंगतियों से पैदा होता है"—इससे आगे बढ़कर हिन्दी कवियों ने यह अनुभव किया कि हास्य का उद्देश्य हास्य पैदा करने के साथ ही साथ जीवन

और जगत् के किसी कटु सत्य की ओर संकेत तथा समाज और व्यक्ति का परिष्कार करना भी होता है। यह हास्य केवल ऊपरी अटपटी बातों और वेश-भूषा के कारण ही नहीं उत्पन्न होता बल्कि इसमें आलम्बन की मानसिक असगति और विरूपता भी सम्मिलित है ; या वही प्रधान अथवा सब कुछ है। ऐसा साभिप्राय हास्य व्यंग्य से संयुक्त होता है या इसकी मार्मिकता व्यंग्य में ही सन्निहित होती है। शुद्ध हास्य केवल हँसा कर समाप्त हो जाता है किन्तु व्यंग्य या व्यंग्य-मिश्रित हास्य व्यक्ति या समाज की किसी ऐसी विरूपता और असंगति पर धीरे से नोक चुभा देता है कि हम उसके प्रभाव से बहुत देर तक तिलमिलाते रहते हैं और एक हल्की-हल्की हँसी हमारे ओठों पर तैर उठती है। इस व्यंग्यमिश्रित हास्य में व्यक्ति और समाज की चमकीली खोल में छिपी हुई विरूपता का पर्दाफाश होता है और पाठक उन छिपे हुए रूपों से परिचित होता हुआ हँसी का मीठा-मीठा रस लिया करता है।

(तुलसीदास, सूरदास और कबीर हिन्दी के इन तीन आदिकवियों की परीक्षा करें तो देखेंगे कि इनमें हास्य का साभिप्राय रूप लक्षित होता है।) (तुलसीदास ने बहुत थोड़े स्थलों पर हास्य की सृष्टि की है, जैसे 'शंकर की बारात', 'नारद मोह', 'खल-बन्दना' और 'बिन्ध्य के बासी उदासी' वाले कवित्त में।) 'शंकर की बारात' संस्कृत परंपरा का हास्य है। किन्तु अन्य तीनों स्थलों पर गोस्वामी जी ने हास्य की सृष्टि मानसिक विरूपता और असंगति के आधार पर की है और आलंबनों पर व्यंग्य भी किया है। 'नारद मोह' में नारद जैसे ऋषि राजकुमारी के रूप पर मुग्ध होकर विष्णु से रूप उधार माँगते हैं। कोई ऋषि सांसारिक वासना की ओर इस कदर दौड़े कि उसे दूसरों से रूप उधार माँगना पड़े, यह कितनी विचित्र बात है ! रूप भी कहीं उधार मिलता है ? विष्णु भगवान् ने नारद को अपना रूप तो दे दिया किन्तु चेहरा बन्दर का बना दिया। नारद बन्दर का चेहरा लिए अकड़ रहे हैं कि राजकुमारी गले में अब जयमाला डालती है तब डालती है किन्तु सब लोग नारद की इस असंगति पर हँस रहे हैं। सामान्य पाठक तो नारद के शरीर और चेहरे की असंगति देख कर ही हँसेगा किन्तु समझदार पाठक ज़रा और गहरे में उतरकर हँसेगा कि देखो तो इस ऋषि नारद के ऋषित्व में कितना मोह बैठ गया है ! "बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी" वाले कवित्त में भी मानसिक असंगति ही हास्य का

कारण है। ऊपर-ऊपर से तप करने वाले विन्ध्य में उदासी तपोव्रतधारी भीतर-भीतर नारी बिना अत्यन्त दुखी हैं और रामचन्द्र के वहाँ आने पर बहुत खुश होते हैं कि अब क्या पूछना ! अब तो गौतम की पत्नी का उद्धार करने वाले रामचन्द्र के पद-रज को छू कर सारी शिलाएँ चन्द्रमुखी बन जाएँगी। गोस्वामी जी उन खलों को वन्दना बड़े विनम्र भाव से, सद्भाव से करते है जो बिना काम-काज के दाहिने-बायें रहते हैं। यहाँ भी व्यंग्य की ध्वनि मानसिक विरूपता से पैदा होती है।

सूरदास के 'भ्रमर गीत' में व्यंग्य की प्रचुरता है। यह व्यंग्य परिस्थिति और पात्र की असंगति के परिणामस्वरूप है। यह व्यंग्य मन की गंभीर वेदना से संपृक्त होकर बड़ा गहरा हो गया है। परिस्थिति यह है कि कृष्ण के वियोग में उन्मत्त प्रेमसिक्त गोपिकाओं को कृष्ण के मिलन की उत्कट आकांक्षा है। सारी गोकुल भूमि (जड़-चेतन) प्रिय कृष्ण के विरह में रो रही है। मानव-मन के राग-विराग की परख से अनभिज्ञ कोरे ज्ञानमार्गी उद्धव गोपिकाओं को सूखा ज्ञानोपदेश देते हैं। परिस्थिति क्या है ? मानव-मन की आकांक्षा क्या है ? पात्रों के स्वभाव क्या हैं ? और महाराज उद्धव का नुस्खा क्या है—बिल्कुल विपरीत कोरी असंगति ही असंगति। उद्धव का विरह में तड़पती हुई प्रेम-मार्गिणी गोपिकाओं के बीच ज्ञान का भाषण देना वैसा ही है जैसे कोई संगीत के आयोजन में सिर दर्द की दवा का प्रचार करने लगे। यह क्रिया अपने आप में हास्यास्पद है। उद्धव की इसी नादानी पर—परिस्थिति और उनके ज्ञान की असंगति पर—गोपिकाएँ भरपूर व्यंग्य कसती हैं। उन्हें ऐसा बनाती हैं कि उनकी सारी विद्वत्ता अपने खोखलेपन का अनुभव करती हुई झड़ पड़ती है। गोपिकाओं का व्यंग्य उनके मानसिक विषाद से और भी गभीर हो उठता है। वे हँसते-हँसते रो देती हैं और रोते-रोते हँस देती है। ऐसा नहीं लगता कि वे उद्धव का मज़ाक करने के लिए मज़ाक करती हैं बल्कि ऐसा ज्ञात होता है कि वे विविध प्रकारों से अपने मन की व्यथा ही उद्धव को सुनाती हैं और जब वे नहीं समझते तो उनकी बुद्धि पर तरस खाती हुई उन्हें बनाने लगती हैं। सूर की इन कविताओं में निर्गुण पर सगुण का व्यंग्य ही ध्वनित है। कृष्ण की स्वाभाविक बाल-लीलाओं द्वारा भी सूर ने हास्य की सृष्टि की है।

कबीर में हास्य का रूप अधिक व्यंग्यात्मक हो गया है। कबीर ने भेद-भाव

से भरे हुए समाजों, जातियों, धर्मों और संप्रदायों को देखा और उनके असत्य रूपों के खोखलेपन पर भरपूर प्रहार किया। अभिजातीय संस्कारों की डींग भरने वाले ये समाज के विभिन्न रूप भीतर से कितने निःसत्व हैं, कबीर इस बात को पहचानते थे। उन्होंने बड़े साहस से इन कुरूपताओं और असंगतियों पर चोट की। "दिन भर तो रोजा रखते हैं और रात को छिप-छिप कर गाय मारते हैं, उधर बन्दगी, इधर खून, खुदा क्या खाक खुश होगा ? × × × इधर पंडित जी हैं जो एकादशी व्रत रखते हैं और पारण में गोश्त खाते हैं। × × × हाथ में माला फिरती है, मुँह में जीभ फिरती है, किन्तु साथ-ही-साथ भक्त का मन भी दसों दिशाओं मे फिर रहा है—बाहरी भक्ति।" इस प्रकार कबीर साहित्य में अनेक व्यग्यात्मक दोहे मिलेंगे जो हमारी तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक कुरूपता पर प्रहार करते है, जिन्हें पढ़ने पर हमें हँसी भी आती है और यथार्थ का बोध भी होता है।

भक्तिकालीन कविता का सम्बन्ध मानव-जीवन की सर्वांगीणता से रहा है, उसमें जन-जीवन की व्यापक और गहरी अनुभूतियाँ अन्तर्निहित हैं किन्तु आगे बढ़ने पर हम देखते हैं कि रीतिकालीन कविता का सम्बन्ध राजदरबारों और रूढ़ियों से अधिक है, जन-जीवन और मौलिक उद्भावनाओं से कम। इसीलिए उसमें हास्य रस का जीवन्त स्वरूप नहीं मिलता। जहाँ मिलता है वहाँ हास्य रस के उदाहरणो के रूप में, जो कि शास्त्रीय परिभाषाओं, सामन्ती रुचियों और बाहरी असंगतियों में ही लिपटा हुआ है। हाँ, बिहारी के कुछ दोहे अवश्य हैं जो भीतरी असंगतियों की उपज है और जो व्यक्तियों के अन्तर्विरोधों पर तेज व्यंग्य हैं। यथा—

"परतिय दोस पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसि करि राखी मिश्रहू मुंह आई मुसकानि॥"

और "नपुंसक वैद्य अपने नपुंसक रोगी को नपुंसकता के नाश के लिये पारा दे रहा है और उसकी शक्ति की बड़ी तारीफ कर रहा है। इस पर वैद्य वधू मुसकराने लगती है। × × × एक कंजूस भिखारियों को भीख देने के लिए अपनी छोटे-छोटे हाथ वाली वधू (जिसके हाथ में कम भीख उठे) को भीख देने के लिए कहता है। मगर उसके रूप को देख कर सारा संसार भिक्षुक होकर उसके यहाँ उमड़ पड़ता है। (कंजूस को लेने के देने पड़ जाते है)।" बिहारी

के अतिरिक्त पद्माकर आदि ने भी कुछ हास्य रस की कविताएँ लिखी हैं जिनमें कृष्ण और राधिका या गोपियों की लीलाओं की विचित्रता हास्य उत्पन्न करती है। ये शुद्ध विनोदात्मक हैं, जैसे "नैन नचाय कह्यो मुसकाय" और "हेरि हरा मुसकाय रही" आदि कविताएँ।

(भारतेन्दु काल तो हास्य और व्यंग्य का खजाना-सा है। वह पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता की संक्रान्ति का युग था। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी दृष्टियों से हमारे समाज में संघर्ष उभर रहे थे। भारतेन्दु जी इस विषमता का कटु अनुभव कर रहे थे। एक ओर उनमें नवीन चेतना जाग्रत हो रही थी, दूसरी ओर नये फैशन में बहते हुए समाज की बुराइयाँ भी उन्हें साल रही थीं। भारत की गुलामी, देश की गरीबी और विषमता उन्हें पीड़ा पहुँचा रही थी। इन कवियों ने कुछ तो स्पष्ट रूप में और कुछ व्यंग्य रूप में तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण किया है।/ मेमों के फैशन की ओर आकृष्ट होकर भारतीय देवियाँ अपने पतियों से कहती हैं—

"लिखाय नाहीं देतौ, पढ़ाय नाहीं देतौ
सइयाँ फिरंगिनि बनाय नाहीं देतौ
कोठा अटारी मेरे मन नाहीं भावे
नदिया पै बंगला छवाय नाहीं देतौ।"

भारतेन्दु का 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' निबन्ध भी समाज के विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं पर खासा व्यंग्य है। 'अंधेर नगरी' द्वारा अन्यायी और अविवेकी राजाओं पर गहरा कटाक्ष किया है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपने छोटे-छोटे निबन्धों में अनेकमुखी व्यंग्य किये हैं। प्रताप-नारायण मिश्र की निम्नलिखित कविता विदेशियों के राजनीतिक और धार्मिक अनाचार पर बड़ा सांकेतिक आघात करती है और साथ ही साथ देश की करुण दशा का चित्र भी है :—

"मंहगी और टिकस के मारे हमहिं छुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिलैं न जिय भरि लेबो वृथा दूध को नाम।
तुमहिं कहा प्यावें जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
बल सुमुखि-अलक उपमा लहि नाग देवता तृप्यंताम।

लैसन इनकम चुंगी चंदा पुलिस अदालत बरसा घाम।
सबके हाथन असन बसन जीवन संसयमय रहत मुदाम।
जो इनहू प्रान बचै तो गोली बोलति आय बड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम सब प्रकार बस तृप्यंताम।"

(द्विवेदी काल में व्यंग्य आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। यह व्यंग्य साहित्यिक असंगतियों का परिचायक है। दूसरी बात यह है कि इन व्यंग्यों में विषय की असंगति की अपेक्षा शैली की वक्रता ही अधिक लक्षित होती है। लेखकों की कविताओं या आलोचनाओं या अन्य कृतियों पर फब्तियाँ कसना और उनके जवाब में फब्तियाँ सुनना ही उस युग के लेखकों का व्यंग्यात्मक स्वरूप था।) देव-बिहारी को लेकर चले हुए विवादों में इन हल्के व्यंग्यों का स्वरूप भली प्रकार देखा जा सकता है।

(छायावादी कवियों में व्यंग्य केवल निराला में है। निराला ने सर्वाधिक व्यंग्य अपनी कहानियों में किये हैं) कनौजिया ब्राह्मणों या समस्त अभिजातवर्गों की घातक भेद-भाव वृत्ति पर निराला ने स्थान-स्थान पर व्यंग्यों के माध्यम से करारा आघात किया है। बदलते हुए युगों की असंगतियाँ भी बदलती रहती हैं। इसीलिए व्यंग्य का विषय भी ताज़ा और नवीन हुआ करता है। जो व्यंग्यकार पिटी-पिटाई विषमता और असंगति को लेकर हास्य और व्यंग्य की सृष्टि करता है, उसका हास्य-व्यंग्य थोथा और बासी मालूम पड़ता है। निराला जी ने भारतेन्दुकालीन लेखकों की भाँति स्वयुगीन सामाजिक असंगतियों को आधार माना है—

"वे जो यमुना के से कछार
पद फटे बेवाई से उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले जी लेते घोर गंध
उन चरणों को मैं यथा अंध
करु घ्राण, प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूं ऐसी नहीं शक्ति।"

—सरोज स्मृति

इसी कविता में सम्पादकों की बुद्धि, नीति और नयी कविता के प्रति समझ का पर्दाफाश किया गया है।

जयशंकर प्रसाद ने हास्य-व्यंग्य के क्षेत्र में एक नया कार्य यह किया कि नाटकों के विदूषकों को नाटक का एक आवश्यक पात्र बना दिया। वे केवल वाहियात और पिटी-पिटाई बातों से हँसाने के लिए ऊपर से चिपकाये हुए पात्र नहीं रह गये बल्कि वे अनिवार्य पात्र बनकर राजपरिवारों की कुरूपताओं और अन्यान्य असंगतियों पर गंभीर व्यंग्य करने लगे।

इस समय हिन्दी के दो अन्य सशक्त व्यक्तियों पर हमारा ध्यान सहज रूप से चला जाता है—प्रेमचन्द और पं० रामचन्द्र शुक्ल। प्रेमचन्द ने गाँवों की दुनिया का गहरा अनुभव किया था और वे उनकी प्रत्येक साँस और स्पंदन से परिचित थे; दूसरी ओर वे शहरों के अभिजातवंशीय बड़े-बड़े सेठों, रईसों, नेताओं, समाजसुधारकों, प्रोफेसरों, नये फैशन की ललनाओं और ज़मीदारों की असंगतियों को भी खूब पहचानते थे। प्रेमचन्द ने वर्तमान युग में लक्षित सामाजिक सम्बन्धों की विरूपताओं, उपर्युक्त पात्रों के अन्तर्विरोधों, परिस्थितियों की विषमताओं पर प्रभावशाली व्यंग्य किये हैं। उनके सभी उपन्यासों में व्यंग्य का मार्मिक स्वरूप देखने को मिलता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने गंभीर निबन्धों के बीच-बीच में जो गंभीर व्यंग्य किये हैं उनका आलम्बन भी सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक या व्यक्तिगत विरूपता ही है। कहीं लोभियों पर व्यंग्य करते हैं, कहीं देश की मिट्टी से अनभिज्ञता और अरुचि रखने वाले देश-प्रेमियों और सभ्यताभिमानियों पर, कहीं विकृत साहित्यिक परंपराओं पर, कहीं धार्मिक रूढ़ियों पर और कहीं किसी व्यक्ति की असंगति पर। "लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!" —लोभ और प्रीति

वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य में दो प्रकार के हास्य-व्यंग्यकार लक्षित हो रहे हैं। एक तो वे हैं जो उपर्युक्त परम्परा के अन्तर्गत आते हैं, अर्थात् अपनी कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों, निबन्धों, स्केचों आदि से वर्तमान जीवन की बहुमुखी कुरीतियों और अन्तर्विरोधों पर व्यंग्य करते हैं।

इनमें गंभीरता रहती है, सामाजिक यथार्थ का मार्मिक चित्रण रहता है। उनमें से व्यंग्य ध्वनित होता रहता है। यशपाल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, उग्र आदि के कथा-साहित्य में व्यंग्य के परिष्कृत रूप मिल सकते हैं। भारतभूषण अग्रवाल, नागर्जुन, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताएँ श्रेष्ठ व्यंग्य प्रस्तुत करती हैं। भवानीप्रसाद मिश्र जी की 'गीत फरोश', अज्ञेय की 'साँप', नागार्जुन की 'जन गन मन' वाली कविताएँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त अनेक नये हिन्दी लेखकों की कविताएँ व्यंग्य का स्वस्थ पुट लिए दिखाई पड़ेगी। वर्तमान हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं-कहानियों को पढ़ने से इस बात का ज्ञान होता है कि हिन्दी साहित्यकार अपने परिवेश की असंगतियों से घनिष्ठरूपेण परिचित होकर उनको अनावृत कर रहा है।

दूसरी परंपरा उन लोगों की है, जो केवल हल्के स्तर के लोगों को हँसाने के लिए, कवि सम्मेलनों में वाहवाही लूटने के लिए पिटे-पिटाये विषयों को लेकर अटपटी बातें कह कर या तुक के चमत्कार से हास्य-सृष्टि करते हैं। इन बेचारों को नारी ही एकमात्र (या प्रमुख) आलंबन मिलती है। उसके न रहने पर इन्हें लिखने का मसाला ही नहीं मिलता। इनके हास्य अधिकांश निष्प्रयोजन और हल्के-फुल्के होते हैं। उनमें जीवन की गंभीर विषमताओं का चित्र नहीं आ पाता, गंभीर असंगतियां नहीं आ पातीं। ये व्यंग्य की जगह पर अभिधा में सीधे-सीधे अपनी बात कह डालते हैं, जिससे समझने वाले के दिमाग पर कोई भार न पड़े। इनकी प्रतीक-योजना, शब्द-विधान, तुक-विधान, अलंकार-विधान और वस्तु सब पिटे-पिटाये, घिसे-घिसाये होते हैं। इन सपाट कविताओं में भी कहीं-कहीं अच्छी व्यंग्यात्मक उक्तियाँ निकल आती है। जहाँ ये लोग घिसे विषयों (नारी या अखबारों के चालू समाचारों) से हट कर किसी सूक्ष्म अन्तर्विरोध पर कलम चलाते हैं वहाँ गंभीर व्यंग्य का भी स्वरूप दिखाई पड़ जाता है। इस वर्ग में वे समस्त कवि आते हैं जो फूहड़ और बेढब उपमाओं की पूंछ लगा लगा कर कवि-सम्मेलन विजय करते घूमते हैं। इनकी शब्दावली भी विभिन्न भाषाओं के अजीब-अजीब खानदान की होती है।

व्यंग्य और हास्य का एक और स्वरूप होता है, यानी व्यंग्यकार का अपने ऊपर व्यंग्य करना। यह व्यंग्य का सबसे सूक्ष्म रूप होता है। व्यंग्य करने

वाला अपनी ही भूलों, दोषों, विवशताओं और परिस्थितियों पर व्यंग्य करके हँसता है। इसका एक सुन्दर नमूना तुलसीदास जी के 'मानस' में भी मिल जाता है, यद्यपि इसका विकास इस युग में हुआ है। राम सीता के विरह में जंगल-जंगल घूम रहे हैं। इन्हें बहेलिया समझ कर मृग भागते हैं। उस समय मृगियाँ उन्हें (मृगों को) समझाती हैं कि अरे भागते क्यों हो, ये तो सोने का मृग मारते हैं—

"हमहिं देखि मृग निकर पराहीं।
मृगी कहहिं तुम कहँ भय नाहीं॥
तुम आनन्द करहु मृग जाये।
कंचन-मृग खोजन ये आये॥"

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' में ऐसे कई स्थल आये हैं, जैसे—

"मुझे बुखार आ रहा है। वह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया में ही हल्ला हो गया कि वसन्त आ रहा है और मेरे पास आया बुखार। अपने कांचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से तो यह नहीं रुका है।"

व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों में लेखक कभी-कभी अपना मजाक भी कर लेते हैं। आज की बहुत-सी नयी कविताओं में भी कवि अपने भावगत या रूप गत दारिद्र्य पर व्यंग्य कर उठते हैं। उपन्यासों के पात्र भी अपनी-अपनी खराब 'करनी' की विवेचना करते हुए अपने पर हँस लेते हैं। मगर अपने पर हँसने के लिए आदमी के पास बड़ा दिल चाहिए।

ऊपर हास्य-व्यंग्य के मूल आलंबनों को ध्यान में रख कर विचार किया गया है। हास्य-व्यंग्य का शिल्प साहित्यकार की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है—वह कोई भी छन्द चुने, कैसी भी पदावली चुने, कैसा भी प्रतीक-विधान अपनाये—वह स्वतंत्र है। पैरोडी भी हास्य-व्यंग्य सृष्टि का एक सशक्त साधन है, किन्तु हल्के कवि पैरोडी में बड़े छिछले हो उठते हैं। गंभीर व्यंग्यकार मूल कविता में थोड़े से हेर-फेर के साथ व्यंगात्मक स्वर पैदा कर देते हैं। अतः सच्चे अर्थों में हास्य-व्यंग्य की सृष्टि गंभीर बौद्धिक और जीवन-भोक्ता लोग ही कर सकते हैं, हल्के छिछले मानसिक स्तर के विदूषक भांड या कवि-सम्मेलनी कवि नहीं।

. ८ :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता

भारतीय स्वतन्त्रता ऐसा कोई सीमा-बिन्दु नहीं है, जहाँ से एक नवीन साहित्यिक मोड़ एकाएक लक्षित हो उठा हो। बाह्य-घटनाओं और मनुष्य की आंतरिक भाव-सत्ताओं के परिवर्तन और बिकास की गति एक-सी या ठीक-ठीक समानान्तर नहीं होती। भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ हिन्दी साहित्य ने एकाएक कोई नया रास्ता अपना लिया हो, ऐसी बात नहीं। फिर भी पिछले कुछ वर्षों की साहित्यिक उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार करने के लिए एक कालावधि निर्धारित कर लेने मे सुविधा रहती है दूसरी बात यह भी है कि भारतीय स्वाधीनता के पश्चात् कुछ तो बाह्य कारणों से (जिनमें स्वाधीनता की प्राप्ति से सम्बद्ध अनेक घटनाएँ और प्रभाव भी आते है) और कुछ अपने सहज विकास के क्रम से इन दस-बारह वर्षों में हिन्दी साहित्य का कुछ नया स्वरूप अवश्य लक्षित होता है।

प्रगतिवाद—भारतीय स्वाधीनता के पहले की कविताओं को हम दो मुख्य धाराओं में प्रवाहित देखते हैं। सन् १९३५ के आस-पास जो प्रगतिशील कविता सामाजिक यथार्थ को अपना विषय बनाकर अपने उत्फुल्ल वेग में आयी थी, वह कभी भारतीय कांग्रेस के नेताओं के स्वर में स्वर मिलाकर और कभी अपने अलग स्वर में देश की आजादी की पुकार कर रही थी। किन्तु प्रगतिशील कविता का स्वर आजादी की पुकार की अपेक्षा सामाजिक जीवन के शोषित-पीड़ित अंगों, सड़ी-गली शोषक और रूढ़िबद्ध सामन्ती और पूंजीवादी व्यवस्थाओं की कुरूपताओं के चित्रण और एक नवीन समाजवादी समाज की रचना की कल्पना से सम्बद्ध था। प्रगतिशील कविता की नवीन दृष्टि भारत की आजादी तक ही सीमित नहीं थी, वरन् वह पूरे एशिया में व्याप्त साम्राज्यवाद की उपनि वे लिप्सा, युद्ध-पिपासा, स्वार्थ-संघर्ष-परता और यहाँ की जनता को बेकारी, अकाल, विवशता, पारस्परिक फूट आदि की ज्वाला में झोंककर अपना उल्लू सीधा करने की उसकी राक्षसी वृत्ति को देख रही थी। अंग्रेजी राज्य उसी साम्राज्य-

वादी चक्र का एक अंग था। प्रगतिशील कविता का यथार्थ-बोध, सौन्दर्य-बोध और भाव-बोध अपने देश की मिट्टी से ही फूटा था, किन्तु भावी समाजवादी समाज के निर्माण का दृष्टिकोण मार्क्सवादी था—जिसे चाहें तो पश्चिमी दृष्टि-कोण कह सकते हैं (हाँलाकि आज के वैज्ञानिक युग में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों और उनको देखने सुलझाने वाले दृष्टिकोणों में पश्चिमी-पूर्वी का भेद नहीं रह गया है)। प्रगतिवाद, भाव-बोध और यथार्थ-बोध के नये स्तरों को उभारने के बावजूद अनेक बार कलात्मक ऊँचाई प्राप्त करने में असमर्थ रहा। उसने जन-जीवन को छायावादी कृत्रिमता से उबारने की चेष्टा की, लेकिन उसने स्वयं जीवन की सहज अनंतता को छोड़कर कुछ सीमित जीवनक्षेत्रों की ही ओर दृष्टि रखी। वह लोक-जीवन की बाहरी वास्तविकताओं को ललकारवादी, नारावादी और इतिवृत्तात्मक शैली में व्यक्त कर, जीवन की—विशेषतया मध्यवर्गीय जीवन की—आंतरिक वास्तविकताओं और काव्य की बिम्बात्मक शैली से अलग हट गया। (निश्चय ही ऐसी अनेक सुन्दर कविताएँ प्रगतिवाद ने दीं, जिनमें नये जीवन का सहज रूप अपने परिवेश के साथ चित्रात्मक ढंग से व्यक्त हुआ है)।

प्रयोगवाद—**'तार सप्तक'** के प्रकाशन (१९४३ ई०) के साथ प्रयोगवाद का जन्म हुआ। बहुत कहा-सुनी के बाद भी यह नाम चल ही पड़ा और यह नाम उन कविताओं का पर्याय हो गया जिनमें मध्यवर्गीय कवि की कुंठाओं की अभिव्यक्ति बड़े कलात्मक ढंग से हुई। कवियों ने नये प्रतीक, नये छन्द, नये उपमान चुने। यद्यपि 'तार सप्तक' में संगृहीत कवियों में अनेक प्रगतिशील कवि भी थे, किन्तु प्रयोगवादी कविता का आदर्श रूप उन्हें ही माना गया, जिनमें मध्यवर्गीय कवि की दमित वासना का चित्रण हो। दमित वासना, असफल प्रेम, प्रेम का दर्द और अकेलेपन की छटपटाहट उन कविताओं में व्यक्त हुई। कवि अपने को पूरे समाज से अलग काटकर अपनी अन्तर्गुहा में घुटती कुंठा, निराशा, अनास्था और अहम्मन्यता को कविता में रूप दे रहा था और उसी को वह मानव-जीवन का गहरा मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहा था। इन्हीं मनोवैज्ञानिक गहराइयों का अभाव पाकर वह प्रगतिशील कविता को कोस रहा था। यह स्वाभाविक था कि प्रयोगवाद जन-जीवन से अपनी जड़ें काटकर सूख जाता। उसका शिल्प नया और बहुत अर्थों में कलात्मक था,

किन्तु जन-भाषा और लोक-छन्दों से सर्वथा असंपृक्त रहने के कारण उसमें कृत्रिमता और निर्जीवता आ गयी।

स्वाधीनता प्राप्ति—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद अपनी-अपनी सीमाओं और पारस्परिक वाग्-युद्धों के साथ आगे बढ़ रहे थे। आजादी मिली। आजादी प्राप्त होने पर सब के मन में जमा हुआ घना कुहरा एकाएक फट गया। लोगों ने अनेक स्वप्न कल्पित किये—यह होगा, वह होगा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अनेक आशावादी कविताएँ लिखी गयीं, जिनमें भारतीय स्वाधीनता और भारत की महानता की स्तुति थी, अनेक प्रकार के सपनों की पूर्ति की भविष्यवाणी थी। कहना न होगा कि ये कविताएँ भावावेगशील और सामयिक महत्व की अधिक थीं। स्थायी साहित्य का गुण प्राप्त कर सकने लायक इनमें न तो यथार्थ-बोध था और न शिल्पसंयम। स्वाधीनता प्राप्त होने पर एकाएक असीम उल्लास, भावुकता और कल्पना में भड़भड़ाकर फूट पड़ना स्वाभाविक था, सभी छोटे-बड़े फूट पड़े। अतएव उस आवेश में सामयिकता अधिक थी, स्थायित्व कम। किन्तु यह आशा तो हम कर ही रहे थे कि स्वाधीनता प्राप्ति की इस नवीन पृष्ठभूमि पर स्वस्थ आशावादी साहित्य के निर्माण का वातावरण तैयार होगा। स्वाधीनता के पहले हम अपने हृदयों में जो बड़े-बड़े सपने सँजोये हुए थे, वे अब अपने पंख फैलाकर उन्मुक्त पक्षी की तरह पवन में लहराएँगे। हम सुखी होंगे, हमारे अभावों, हमारी हीनता की ग्रन्थियाँ तड़ातड टूटेंगी। किन्तु आजादी मिलने के साथ ही साथ जो साम्प्रदायिक उपद्रव खड़े हो गये, वे शुभ लक्षण नहीं प्रतीत हुए। चारों ओर हिन्दू-मुसलमानों के बीच भयंकर मारपीट, विकट ईर्ष्या-द्वेष का ऊहापोह छा गया। स्वाधीनता का मुक्त आकाश जैसे धुएँ से घिर कर बोझिल हो गया। दोनों देशों से पलायन करने वाले शरणार्थियों की आह-कराह चारों ओर बिछ गयी। चारों ओर एक खिन्नता का वातावरण तैयार हो गया। इस घटना से उत्तेजित होकर भारत के हिन्दू सम्प्रदायवादियों का दल और भी सक्रिय हो उठा जो मुसलमान सम्प्रदायवादियों का जवाब देने में कांग्रेस सरकार को निकम्मी करार देकर जनता को उभार रहा था। इस सम्प्रदाय की आग में महात्मा गांधी की आहुति होकर रही। महात्मा गांधी के इस बलिदान से पूरे भारत में अंधकार की एक पर्त और छा गयी। महात्मा गांधी के निधन पर फिर एक बार सामयिक कविताओं की धूम मच गयी। इस

तरह स्वाधीनता का प्रारम्भ बड़े ही विषम और कोलाहलपूर्ण वातावरण में हुआ।

इन घटनाओं के बावजूद भारत का जन-मानस स्वाधीनता प्राप्ति से अनेक सुख-सुविधाओं की आशा की ज्योति जगाये बैठा था। उसे ऐसा लगता था कि बहुत जल्दी ही हमारे दुःख दर्द हमसे विदा लेंगे। समय बीतता गया। प्रशासन की अनुभवहीनता, क्रान्तिकारी दृष्टि के अभाव और स्वार्थन्यस्त तथा बेईमान प्रशासकों एवं नेताओं के बाहुल्य के कारण सरकार जन-जीवन में व्याप्त निराशा, अभाव और तनाव को दूर नहीं कर सकी। कुछ दिन तक इसने अपनी अल्पावस्था को कारण बताकर जनता को बहकाया और कभी रोष-खरोश के साथ अपने किये-कराये पिछले और तथाकथित नये चमत्कारों को डंके की चोट घोषित कर बकवासी जनता का मुंह बन्द करना चाहा, किन्तु सच्चाई तो आग की लपट है, वह बहानों और मिथ्या दावों के आवरण में कैसे बँध सकती है? जनता के सपने टूटने लगे। उसने अनुभव किया कि सरकार बदल गयी है, राज-व्यवस्था और जनता की दशा ज्यों की त्यों है। अंग्रेजी सरकार परायी थी। पराये के जुल्म को आदमी सह लेता है, किन्तु जब परायों की तरह अपने लोग भी व्यवहार करने लगते हैं, तब अमर्ष होता है, तनाव पैदा होता है। इसलिए कांग्रेसी सरकार के शासन के प्रति लोगों के मन में एक अमर्ष मिश्रित असंतोष पैदा होने लगा। स्वार्थन्यस्त अधिकारियों और सत्ताधारियों की वजह से पक्षपात का बोलबाला हो गया। घूसखोरी को पंख लग गये। यहाँ तक कि न्याय विभाग भी दूषित हो चला। बेकारी बढ़ गयी, खेत-हीन, खेत-हीन ही रहे। जमींदारों की जमींदारी अवश्य टूटी मगर उससे भूमिहीनों को कोई लाभ नहीं हुआ। अराजकता इतनी बढ़ी कि लोगों की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। गरीबी जहाँ थी, वहीं जड़ जमाये बैठी रह गयी। शिक्षा का अधिकार अब भी धनवानों को ही रहा। बाढ़ से ग्रस्त इलाकों में न बाँध की समस्या सुलझी, न शिक्षा का प्रबन्ध हुआ, न अस्पताल खुले, न उनको बेकारी से उबारने के लिए ही कोई प्रयत्न किया गया। सामाजिक क्षेत्र में भी कोई सुधार नहीं हुआ। प्राचीन सामन्ती और पूंजीवादी रूढ़ियाँ अपने-अपने अनुकूल स्थानों पर डैने फैलाए अंडे सेती रहीं। व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिए मुक्त तो किया गया किन्तु यह असहाय, निघरा व्यक्ति केवल मुक्त आकाश के नीचे भटकने के लिए ही मुक्त किया गया या कि थक-भटक कर अपने को दो कौड़ी के मूल्य पर बेचने के लिए। नये संवेदन-

शील हृदय को पग-पग पर आज भी रूढ़ियों और दकियानूस विचारों से टकराना पड़ता है।

इन सारी अनास्था-प्रसू भूमिकाओं के साथ-साथ आज का संवेदनशील हृदय मानवता को कुहरे के भीतर से निकाल कर उसे नये आलोक में स्नात देखना चाहता है। वह किसी अनागत के पदों की ध्वनि स्पष्ट रूप से सुन रहा है, वह अपनी विवशताओं के बीच छटपटाता हुआ भी पराजय स्वीकार नहीं करता। भावी पीढ़ियों के लिए नया संसार निर्मित करता हुआ उसका श्रम, उसका संघर्ष, उसे घोर निराशा और अटूट अनास्था के गहन गर्त में गिरने नहीं देता। मार्क्स और फ्रायड ने यथार्थ के दो छोरों को उनकी आत्यन्तिक तीव्रता के साथ आलोकित किया था। इन दोनों छोरों को अलग-अलग देखने वाले साहित्यकारों ने जीवन को बाँट-बाँट कर देखा। मानव को उसके समस्त परिवेश, उसकी समस्त लघुता और महानता के साथ उसे सहज रूप में देखने की दृष्टि का विकास नहीं हुआ था। प्रगतिशील और प्रयोगशील कविताएँ इन्हीं दो छोरों की सीमाओं से बद्ध होने के नाते एकांगिता-पीड़ित थीं। किन्तु भारतीय स्वाधीनता के पश्चात् नयी कविता के रूप में जिस कविता का स्वरूप हमारे सामने आया, वह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की उपलब्धियों को लेकर आयी थी। उसमें न तो व्यक्ति की अंतर्गुहा में सड़ने वाली एकान्तिक कुंठा थी और न भावुकता पर आधारित बड़ी-बड़ी विजयों को हस्तगत कर लेने की घोषणाएँ। हवाई आशा-विश्वास और अति वैयक्तिक पीड़ावाद के कृत्रिम आवरण के स्थान पर नयी कविता ने सहज सत्यों का बाना धारण किया।

नयी कविता की भूमिका—स्वाधीनता के पश्चात् प्रगतिवाद की समाप्ति की घोषणाएँ होने लगी थीं, दूसरी ओर प्रयोगवाद की निरी तांत्रिकता से सभी लोग ऊबने लगे थे। क्या लिखा जाए, क्या न लिखा जाए यह प्रश्न आकर अटक गया था। प्रगतिवाद ने किसानों-मजदूरों का बहुत राग अलापा। प्रयोगवाद के पास शिल्प-चातुर्य के साथ कुछ व्यक्तिगत दर्दों को व्यक्त करने के अलावा कुछ था ही नहीं। अतः अब क्या लिखा जाए ? **'यह क्या लिखा जाए ?'** का प्रश्न मानो उस काल के स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों के **'अब क्या किया जाए ?'** का प्रतिबिम्ब था। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् मानो सेनानी लोग अपनी-अपनी मंजिल पर पड़ाव डालकर बैठ गये और सत्ता की एक-एक जागीर

लेकर निश्चिन्त मस्ती काटने के सिवा उनके पास कोई योजना ही नहीं थी। चौराहे पर भटके हुए मुसाफिर की भाँति सभी लोग दिग्भ्रमित से मालूम पड़ते थे। काँग्रेसी सरकार की क्रमिक असफलता से जनता भी एक अजीब जल-चक्र में चक्कर काट रही थी। निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ता के कारण एक अद्भुत गत्यवरोध लक्षित हो रहा था। हिन्दी कविता में भी इसी समय गतिरोध की पुकार सुनायी पड़ने लगी। क्या लिखा जाए ? स्वराज तो मिल गया। अब हमीं देश के मालिक हैं, अतः अब देश की दुर्दशा, राष्ट्रीय आवेश, सामाजिक अभाव और अव्यवस्था के प्रति आवाज़ क्या उठाते ? दूसरी ओर उपर्युक्त व्यवस्थाएँ ज्यों की त्यों थीं। अतः ऐसी स्थिति में क्या कहा जाए, क्या न कहा जाए ? प्रगतिवाद ने स्वाधीनता मिलने के पश्चात् घटित होने वाली साम्प्रदायिक घटनाओं, शरणार्थियों की दयनीय स्थितियों आदि पर साहित्य लिखा, किन्तु इन विषयों पर कब तक और कितना लिखा जाता ? प्रयोगवाद भी व्यक्तिगत कुंठाओं की सीमा में कब तक रिरियाता ? अतः गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

वास्तव में यह गतिरोध थकान और हार-जन्य नहीं था। अपने नवीन उन्मेष के साथ उठने वाले और नव-निर्माण के लिए यात्रा शुरू करने वाले देश के सामने गतिरोध कैसा ? यह एक क्षणिक भटकाव था। कुहरे में क्षण-भर यात्री रुक कर पथ की खोज करने लगे। यह कुहरा रात के प्रथम प्रहर का नहीं था, बल्कि सुबह का था जो सूर्य की किरणों के फूटते ही फट गया और दिशा-दिशा को दौड़ते रास्ते साफ हो गये।

नया कथ्य—कवियों ने अब अपना कथ्य पा लिया ? कथ्य कहाँ नहीं है ? वह तो समस्त मानव जीवन के सर्वाङ्ग में दीप्त है। अब आश्चर्य हुआ कि इतनी सहज-सी बात पहले क्यों नहीं दिखी ? प्रगतिवाद ने लक्षित किया कि कांग्रेस की असफलता से धीरे-धीरे जनता में असन्तोष फैल रहा है। सामान्य जीवन का स्तर जहाँ था वहीं है। विपन्नता आज भी उनको दबोचे हुए है। सत्ता में चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अतः जनता की ओर से उसे फिर बोलने का मौका मिल गया। किन्तु प्रगतिवादियों के दो स्तर हो गए। एक वे थे जो अपने पुराने जोश-खरोश के साथ उसी तड़क-भड़क वाली शैली में चिल्लाये जा रहे थे, जो दलगत राजनीति से अधिक प्रभावित थे और साहित्य-धर्म से कम। दूसरे वे थे जिनके दिलों में सामाजिक दुर्दशा, अंधरूढ़ि, शोषक-परम्परा के विरुद्ध

भयंकर आग थी, जैसे कि एक संवेदनशील मनुष्य के भीतर हो सकती है। किन्तु ये साहित्य-मर्म के पारखी थे। ये किसी भी चीज को साहित्य की प्रकृति में ढालकर कहने के पक्षपाती थे। इन प्रगतिशीलों ने जीवन को उसके समग्र रूप में देखने का प्रयास किया। मानवता के प्रति जहाँ भी अत्याचार है, चाहे देश में, चाहे विदेश में, सबके विरुद्ध इनकी आवाज़ उठी और जीवन-छवियों को चारों ओर से समेटा। ये कवि भले ही कुछ देर के लिए दलगत आवेश में भटके हों किन्तु कुछ देर बाद सहज मार्ग पर आ गये और ये वे हैं जो नयी कविता के क्षेत्र में सबसे अधिक सामाजिक संवेगों के कवि है।

प्रयोगवाद बदनाम हो चुका था। इन कवियों या इनकी परम्परा में आने वाले कवियों ने महसूस किया कि इस सामाजिक उथल-पुथल के युग में जन-जीवन और जन-भाषा से दूर रहकर कब तक अपने अहम् की खोल में जिया जा सकता है, शिल्पगत मार्मिकता कितनी ही प्रभावोत्पादक क्यों न हो ? अतः ये कवि भी समग्र जीवन की सहजता की ओर बढ़े। निराशा इनकी भी थी किन्तु मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन की असफलताओं से प्रसूत थी। अब इन्होंने धीरे-धीरे अपनी निराशा को सामाजिक परिधि तक फैलाया। समाज की निराशा को व्यक्ति-निराशा के माध्यम से कहने के लिए आकुल हुए। अतएव एक ऐसा धरातल आ गया जहाँ प्रयोगवादी शिल्प की ओर झुकने वाले स्वस्थ प्रगतिवादियों और सामाजिक संवेग की ओर झुकने वाले प्रयोगवादियों में दूरी कम हो गयी। उस सामान्य धरातल पर लिखी जाने वाली कविता को नयी कविता कहा गया।

नयी कविता—नयी कविता नाम पर कुछ लोगों ने आपत्तियाँ की हैं कि नयी कविता तो आने वाले युगों में भी होगी और होती आयी है, फिर आज-कल की कविता को ही नयी कविता क्यों कहा जाए ? नाम के सम्बन्ध में हमारा कोई विशेष आग्रह नहीं है। आने वाली पीढ़ियाँ चाहे इसे जिस नाम से पुकारें, किन्तु आज नयी कविता कहने से निश्चय ही उस कविता का बोध होता है, जो अपनी कुछ विशेषताएँ रखती है।

नयी कविता की दृष्टि यथार्थवादी है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद भी यथार्थवादी दृष्टि के थे, किन्तु वे समग्र जीवन को नहीं देख सके। प्रगतिवाद में निश्चय ही समाज के व्यापक स्वरूप को देखने के लिए तड़प थी, किन्तु मतवाद

के आवेश में वह अपने कार्य में कृतकृत्य न हो सका। नयी कविता ने समाज और जीवन के सभी अंगों को मुक्त दृष्टि से देखा। समाज के भीतर नयी परिस्थितियों और नयी समस्याओं के कारण जो जटिल सम्बन्ध, जटिल संवेग और जटिल प्रश्न पैदा हो गये हैं, उन सबको नयी कविता ने देखा। भारतीय लोकमानस भारत की वर्तमानकालीन परिस्थितियों (जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है) के संदर्भ में किस प्रकार नयी कसमसाहट से भर गया है, इसे नयी कविता ने बड़ी सहजता से रूप दिया है। नयी कविता, कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को ही चित्रित कर रही है। कवि जो भोगता है, अकेले थोड़े ही भोगता है। समाज का वह सबसे अधिक संवेदनशील प्राणी होता है, अतः वह अपने ही समान दर्द को भोगते हुए समाज के तमाम प्राणियों की मूक वेदना को स्वर देता है। आज व्यक्तित्व को लेकर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं ? **'क्या हर एक नया कवि अपने व्यक्तित्व के माध्यम से सामाजिक व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्त कर रहा है ?"**

खंडित और अखंडित व्यक्तित्व—निश्चय ही यह प्रश्न विचारणीय है। विचारकों ने नयी कविता के कवियों के व्यक्तित्वों को दो रूपों में देखा है—**'एक वह जो खंडित है'** अर्थात् जो कभी अपने अति वैयक्तिक स्तरों के सन्नाटे में खोकर अपने ही सुखों-दुखों (विशेषतया दुखों) का अरण्य-रोदन करता है, और कभी सामाजिक प्रवाह में मिलकर सामाजिक सुख-दुख की अभिव्यक्ति करता हुआ सामाजिक भविष्य की विजय के प्रति आस्था व्यक्त करता है। ऐसे अवसरों पर कवि का स्वर कृत्रिम और प्रभावहीन ज्ञात होता है, क्योंकि वह सामाजिक प्रवाह की गति का भुक्तभोगी न होकर दर्शकमात्र होता है और तटस्थ दर्शक की भाँति समाज को देखकर उसका स्वरूप निरूपण करता है। ऐसी कविताओं में अनुभव के संस्पर्श से पैदा होने वाली मार्मिकता नहीं आ पाती। ऐसा भी होता है कि कोई कवि कविताओं में एकान्त वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों (जिनका भोग वह स्वयं कर चुका होता है) और दृष्टियों की अलग-अलग अभिव्यक्ति करता है। और इस प्रकार उसकी अलग-अलग कविताओं में उसके व्यक्तित्व की एकता न दीखकर खण्डत्व दीखता है। अतः उन्हें खण्डित व्यक्तित्व वाला कवि कहा जाता है। यह जरूर है कि इनकी सभी प्रकार की कविताएँ जीवनानुभूति की आँच में तपी होने के कारण मर्मस्पर्शी

होती हैं। आगे हम इनके सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। **दूसरे वे कवि हैं जो अखंड व्यक्तित्व के हैं।** अर्थात् जो सामाजिक जीवन प्रवाह में बहे हैं। उनकी अनुभूति, दृष्टि, सौन्दर्यबोध, अभिव्यक्ति-पद्धति सभी सम्पूर्ण भाव से सामाजिक हैं, वे कभी भी ऐकान्तिक जीवन के अरण्य-रोदन में प्रवृत्त नहीं होते, कभी भी कुण्ठा और अनास्था में नहीं फँसते। उनका व्यक्तित्व बँटा नहीं होता, असंगतियों से ग्रस्त नहीं होता।

आलोचकों ने प्रायः उन प्रगतिवादियों को अखण्ड व्यक्तित्व का कलाकार कहा है, जो कभी भी अनास्थापूर्ण और कुण्ठाग्रस्त रचना नहीं करते। **नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि इसी श्रेणी के कवि माने गये हैं। शमशेर, नरेश मेहता, नेमिचन्द जैन आदि** ऐसे कवि हैं जो समाजवादी दृष्टि के होते हुए भी संस्कारों से व्यक्तिवादी हैं, अतः ये खण्डित व्यक्तित्व के हैं। शुद्ध प्रयोगवादी कवि तो कभी सामाजिक दृष्टि और चेतना की बात ही नहीं करते— वे तो अपने अहम् की चहारदीवारी में ही रोते-गाते रहते हैं। अतः उनके खण्डत्व और अखण्डत्व की बात ही नहीं उठती।

नयी कविता ने उपर्युक्त भेद को स्वीकार नहीं किया। हमने स्वाधीनता के बाद के भारतीय समाज की परिस्थितियों और मनस्थितियों का विश्लेषण करते हुए देखा कि पूरा समाज आशा और निराशा की मिली-जुली घाटियों से गुजर रहा है। पूरे समाज का ही व्यक्तित्व अखण्ड नहीं है। प्रगतिवादियों या स्वाधीनता के पहले के स्वराज्य-यात्रियों का रास्ता साफ था, मंजिल निश्चित थी—मंजिल तक पहुँचने का एक ऐसा अदम्य उल्लास था जिसमें उनके अपने सुख-दुख डूब गये थे। स्वराज्य मिलने के बाद सुख-दुख के स्तर उभरने लगे। किसानों, मजदूरों को जाग्रत करने के आवेश में प्रगतिवादियों का जो मानव-सहज व्यक्तिगत संवेग दबा हुआ था, वह बहुत देर तक इस आरोपित संयम के दबाव को सहन न कर प्रस्फुटित होने लगा। दूसरे यह भी कि राजनीतिक प्रगतिशील और साहित्यिक प्रगतिशील में मौलिक अन्तर होता है। राजनीतिक प्रगतिशील, व्यक्तिगत व्यक्तित्व को दबाकर जन-व्यक्तित्व का आवरण ओढ़े हुए बहुत दूर तक चल सकता था, किन्तु अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा कर नकली व्यक्तित्व पहन कर दूर तक चलना साहित्यकार की मूल प्रकृति को स्वीकार नहीं (ऐसे भी साहित्यकार

या नेता हो सकते हैं जो अपने और समाज के व्यक्तित्व को एक कर देते हों और वहाँ पर सामाजिक व्यक्तित्व उनका कृत्रिम आवरण नहीं बल्कि मूल व्यक्तित्व बन जाता है; किन्तु ऐसे साहित्यकार या नेता हैं कितने ?)

नया कवि या नयी धारा के स्पर्श से कुछ पुराने कवि इस खंडित-अखंडित के भेद को मिटाकर सहज मानव-जीवन को कविता में अंकित करने लगे। आज का मानव-समाज न तो अखंड है और न व्यक्तिगत पराजय के गहन गह्वर में टूटा हुआ और निर्जीव पड़ा हुआ व्यक्तिमात्र। वह अनेक प्रकार की जटिलताओं से घिरा है—अभावग्रस्त है, बेकार है, सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों और राजनीतिक अन्यायों से पीड़ित है। युद्ध की विभिषिकाएँ अपने बड़े-बड़े पंखों की छायाएँ विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक सनसनाती निकल जाती हैं। फिर भी हम नव-निर्माण में रत वायुमंडल में साँस ले रहे है। हमे रह-रहकर ऐसा लगता है कि अनागत भविष्य का मंगलद्वार अब खुले, तब खुले। अतः वर्तमान की पीड़ाओं में रहते हुए भी हम सुन्दर (काल्पनिक नहीं) श्रम के गर्भ से उत्पन्न होने वाले यथार्थ भविष्य, अपने संघर्षमय जीवन के वीर्य से उत्पन्न होने वाली स्वस्थ सुखी सन्तानों की ओर आशा लगाये उल्लास का भी अनुभव करते हैं। यह नया भविष्य प्रभु-कृपा से नहीं, हमारे श्रम से पैदा होने वाला है। नयी कविता ने आधुनिक युग के मानव को उसके समस्त परिवेश में देखा। मानव अपनी लघुता और महानता के साथ जैसा है, वही है यथार्थ मानव। इसी मानव के प्रति हमारी सहानुभूति है। मानव लघु है, तो वह हमारी घृणा का नहीं, सहानुभूति का पात्र है, क्योंकि वह अपने समस्त परिवेश की उपज है। यहां लघु मानव हमारा सहधर्मी है, सहयात्री है, सहयोगी है। इसी में लघुता के साथ-साथ महानता भरी है। प्राचीनकाल के व्योमचुम्बी काल्पनिक विराट व्यक्तित्वों तक तो हमारी सहज मानवी आँखें पहुँच ही नहीं पातीं। उनकी विराटता के प्रति हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं, परन्तु उन्हें हम अपना सहयोगी नहीं बना पाते। नयी कविता इस यथार्थ मानव के जीवन के सम्बद्ध और असम्बद्ध क्षणों की विभिन्न अनुभूतियों और बौद्धिक परिणितियों को साकार करती है। नयी परिस्थिति में हम जो कुछ अनुभव करते हैं, जो कुछ सोचते हैं, जिन दुखों-दर्दों, आशा-उल्लासों, अभावों और सम्पन्नताओं तथा जीवन-मूल्यों का साक्षात्कार कर रहे हैं वे सब नयी कविता के विषय हैं।

जीवन वैचित्र्यपूर्ण है, भिन्न-भिन्न क्षणों में हम जो अनुभव करते हैं उनमें अनेकरूपता और कभी-कभी असम्बद्धता भी रहती है। वे भिन्न-भिन्न क्षण-सत्य हमारे व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को मूर्तित कर अन्ततोगत्वा हमारे जीवन का सर्वाङ्ग रूपायित कर देते हैं। आज की जटिल परिस्थितियों और इनसे उत्पन्न जटिल मानव सम्बन्धों के कारण व्यक्तित्व की पूर्णता एक सूत्र में पिरोयी हुई और सुनियोजित ऊँचाई-नीचाई तक जाने वाली नहीं लक्षित होती।

नयी कविता में आज के जीवन की बहुमुखी भूमिकाएँ अंकित हैं। नयी कविता में यथार्थ को देखने की दृष्टि छायावादी कविता की काल्पनिक और भावुकताशील दृष्टि, प्रगतिवादी कविता की सर्वथा दर्शन विशेष से प्रेरित सामाजिक दृष्टि या प्रयोगवाद की अन्तर्मुखी कुंठित दृष्टि की-सी नहीं है, वह यथार्थवादी है, जो किसी दल या राजनीति से प्रेरित न होकर कवि के संवेदनात्मक व्यक्तित्व और वैचारिक प्रौढ़ता से निर्मित और प्रेरित है। इसीलिए नरेश और उन्हीं के समान कुछ और कवि परिपाटीबद्ध कविता लिखने के बाद अब अत्यन्त सहज रूप में लिख रहे हैं। इनका व्यक्तित्व अब किसी वाद से अनुशासित नहीं है। अतः अब ये जीवन-छवियों को अधिक स्वाभाविकता से व्यक्त कर रहे हैं। नयी कविता में कहीं-कहीं यथार्थवादी दृष्टि शुष्क बौद्धिकता के स्तर तक पहुँच जाती है। यह सीमा नयी कविता की नहीं बल्कि उन कवियों की है जो संवेदनात्मक और वैचारिक गहराइयों के अभाव में किसी गहन जीवन-सत्य का आभास देने के लिए बुद्धि-विलास करते हैं, लोगों की चेतना को झटके मार-मार कर विचित्र बातें कहने के शौकीन होते हैं। लोगों को चौंकाने के लिए नये-नये उपमानों और प्रतीकों (जो कहीं-कहीं अत्यन्त जुगुप्सा व्यंजक निरर्थक, और भद्दे मालूम पड़ते है) का निरुद्देश्य संयोजन करते हैं। ऐसी कविताओं ने नयी कविता को बदनाम किया है और यह देखने में आता है कि नयी कविता के विरोधी ऐसी ही कविताओं को जुटा-जुटाकर यह ऐलान करते हैं कि यही है नयी कविता।

शिविरबद्ध काव्य-वृत्ति—मैंने नयी कविता के पूर्वग्रह-हीन होने की बात कही। किन्तु यहाँ भी नयी कविता का नहीं, बल्कि कुछ विशेष कवियों की सीमाओं की ओर ध्यान चला ही जाता है। प्रयोगवादी परम्परा के कुछ जाने पहचाने कवि (जो अब नयी कविता के पक्षधर माने जाते हैं) या उनकी शिष्य

परम्परा में आने वाले कुछ नये कवि (जो भिन्न-भिन्न शहरों में संस्था विशेष कायम कर अपना मोर्चा स्थापित किये हुए हैं) निश्चय ही कभी-कभी उबास पैदा करने वाली व्यक्तिवादी अनास्था का लिजलिजापन, राजनीतिक दलविशेष के सिद्धान्त के समर्थन और विरोध में कलात्मक ढंग से अनुरक्ति और विरक्ति पैदा करते रहते है। बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि ये विशेष संस्थाओं से सम्बद्ध गुरु और शिष्य जिसको चाहते हैं नया कवि कहते हैं, जिसको चाहते हैं नयी कविता के क्षेत्र से बाहर कर देते हैं। किन्तु यह नयी कविता है जो किसी भी आचार्य या दल का दबाव और अनुशासन सहन न करती हुई उन्मुक्त रूप से अपने व्यक्तित्व का प्रसार और उत्थान कर रही है, सभी नयी प्रतिभाओं को अपने में समेटे हुए है। इसीलिए नयी कविता के कुछ आचार्य अपने अनुशासन की असफलता देखकर नये कवियों की रोषपूर्ण शब्दों में भर्त्सना करते हैं और अवसर पाते ही (और ये प्रायः अवसर तो पाते ही रहते हैं) अपनी ही प्रशंसा में टूट पड़ते हैं।

दर्द का व्यक्तित्व—नयी कविता में दर्द है। दर्द का प्रयोग इन कवियों ने व्यापक अर्थ में किया है। नयी कविता का कवि अपने व्यक्तित्व के माध्यम से ही जगत् को व्यक्त करता है। आज के सारे सुख-दुख को भोगने वाले समाज की वह इकाई है। अतः उसके सुख-दुख समस्त परिवेश के सुख-दुख को छूते हैं। अतः वह कविता में व्यक्तिगत माध्यम से सारे तथ्यों और सत्यों को उभारता है। जो कवि जितना ही बड़ा भोक्ता होता है उसका दर्द उतना ही बड़ा होता है, उसका दर्द उतना ही अधिक सामाजिक स्तरों पर जीवन मर्मों को छूता है। कुछ लोगों ने सवाल उठाया है कि दर्द का छोटा-बड़ा होना महत्त्व नहीं रखता; महत्त्व रखता है उसका ईमानदारी के साथ अनुभूत और अभिव्यक्त होना। बात सही है। ईमानदारी के साथ भोगा हुआ छोटा दर्द उधार लिये हुए दर्द की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी होता है, किन्तु अपने दर्द को सामाजिक परिधि तक फैलाना हमेशा श्रेयस्कर माना गया है। ऐसा दर्द सामाजिक जीवन की आँच में तपकर और भी लाल होता है, और भी पक्का होता है और उस दर्द से हमें सामाजिक दृष्टि मिलती है। मुर्गी के अण्डे की तरह अपने पंख फैलाये दर्द सेते रहना श्लाघ्य नहीं है। सो नयी कविता में अन्डाकार दर्द वाले कवि भी कम नहीं हैं, जो बिना किसी सामाजिक व्यथा का अनुभव किये,

अपने आसपास के भी समाज की धड़कनों को बिना जाने-सुने दर्द-दर्द चिल्लाया करते हैं। इनक ।आला हमेशा इन्हीं की छाती पर होता है। अपना दर्द ये ही सुनते हैं, ये ही समझते हैं। पता नहीं इनके पहलू में कोई दर्द होता भी है या नहीं। रूठे हुए नादान बच्चे की तरह मिथ्या अमर्ष में रोते हैं और चाहते हैं कि इन्हें दुलारे बच्चे की तरह सभी लोग गोद में लेकर चुप करायें और पूछें, क्या लोगे ?—खिलौना, मिठाई, माँ की गोद ? मगर ये बस अहकते ही रहें अकारण, क्योंकि इनके पहलू में कहीं कोई नादान दर्द उठ रहा है। फैशन के रूप में दर्द-दर्द चिल्लाने वाले खाते-पीते, भले-चंगे दीखने वाले, मौज-मस्ती करने वाले बहुत से नये कवि दीख पड़ते हैं। नयी कविता ने वास्तव मे व्यक्ति के दर्द और समाज के दर्द को उसके सहज रूप में देखने का प्रयास किया परन्तु कृत्रिम दर्द वालों ने दर्द को निरर्थकता की नयी परिधि तक खींच लिया।

परम्परा का बोध—नयी कविता ने निःसंकोच भाव से प्राचीन नैतिक मूल्यों, दर्शन-प्रणालियों, सौन्दर्य-बोधों (जो कि आधुनिक जीवन में मिथ्या हो गये हैं, केवल फटे हुए वस्त्रों के समान किसी प्रकार ऊपर-ऊपर लिपटे हुए हैं) को प्याज के छिलके की तरह उतार कर फेंक दिया। जो असत्य है, जो आज वास्तविक जीवन के बीच अस्तित्व में नहीं है, उसे निर्ममतापूर्वक संस्कारों से काट कर अलग करो। ये प्रवंचना हैं। नयी कविता ने वर्तमान जीवन के यथार्थ की सच्ची विवृत्ति की। नया कवि इतिहास की ओर भी गया है, परन्तु हर बार वह इतिहास को एक नया अर्थ देकर आधुनिक काल के जीवन की अभिव्यक्ति करता है। **धर्मवीर भारती** का **'अंधायुग'** इसी अर्थ-नवता का द्योतक है। **'अंधायुग'** की समस्त प्रतीतियों से हम सहमत न हो सकें, बात दूसरी है, किन्तु वह अतीत के माध्यम से आज के जीवन-मूल्यों का अंकन करने का सफल प्रयास है। छोटी-छोटी कविताएँ तो इस प्रकार की अनेक आयी हैं। **कल्पना** में प्रकाशित **केशु** की कविता **'सूर्यपुत्र के तीन मर्म कथन'** को इन मार्मिक कविताओं में से एक कह सकते हैं।

इन्द्रियबोध—नयी कविता ने सूक्ष्म से सूक्ष्म इन्द्रियबोधों, अनुभूतियों और मनस्थितियों का चित्रण किया। विभिन्न क्षणों में हम अकारण उल्लास का अनुभव करते हैं। उसके साथ ही साथ अकारण ही सारा विश्व हमें अपना होता हुआ ज्ञात होने लगता है या कभी-कभी जी भारी हो जाता है, चारों ओर का वायु-

मंडल भारी लगने लगता है। मन ही तो है, हो जाता है कभी-कभी ऐसा-वैसा। नयी कविता में उन मनःस्थितियों का अंकन बड़ी सहजता से हुआ है। इसी प्रकार नयी कविता ने छोटे-छोटे चित्रों द्वारा वर्तमान समाज के अनेक जीवन-मर्मों को उद्‌घाटित किया है।

व्यंग्य-विधान—व्यंग्य-विधान आधुनिक साहित्य का प्रमुख अंग हैं। प्रगतिशील साहित्य ने पहली बार प्रभूत व्यंग्य-विधान किया। समाज की सड़ी-गली शक्तियाँ, रूढ़िग्रस्त परम्पराएँ, सामन्ती और पूंजीवादी समाज की शोषक प्रवृत्तियाँ, उनकी अमानवीय भूख-प्यास, सुसंस्कृत और शिक्षित शरीफों की हृदयहीनता और असंगतियाँ आदि प्रगतिशील साहित्य के व्यंग्य का विषय रहीं। इनकी कुरूपताओं और अशक्तियों के ऊपर आवृत पर्दे को निर्ममता से हटा कर उनका मज़ाक करना और उनकी निस्सारता दिखाकर शोषित किसान मजदूर जीवन की जीवन शक्तिमत्ता का समर्थन करना प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य था। प्रगतिशील साहित्य का व्यंग्य हमेशा सोद्देश्य रहा और सोद्देश्यता हमेशा मानवीय संवेदना और नव-निर्माण की परिकल्पना से प्रेरित रही। नयी कविता में दीख पड़ने वाली व्यंग्य-विनोद की प्रचुरता इसी परम्परा से प्राप्त हुई। नयी कविता का व्यग्य प्रगतिशील साहित्य के व्यंग्य की तरह मानवीय संवेदना से प्रेरित तो है किन्तु दल विशेष के दृष्टिकोण पर आधारित न होने के नाते अधिक मुक्त और व्यापक है। ससार में जहाँ कहीं भी असगति है, जिस किसी भी दल के लोगों में कुरूपता है, नयी कविता की दृष्टि वहाँ पहुँच जाती है। अतः वह व्यंग्य शुद्ध मानवीय सौन्दर्य-बोध से स्पंदित जान पड़ता है। प्रगतिशील साहित्य का व्यंग्य अनेक अवसरों पर रोषयुक्त और स्थूल हो उठता था। नयी कविता के व्यंग्य में पैनापन है। नया कवि अपने पर भी व्यंग्य करना जानता है। विभिन्न परिस्थितियों में स्वयम् लेखक कितना विद्रूप हो उठा है, उसमें कितनी असंगतियाँ आ पड़ी हैं वह इनसे परिचित है और वह अपने ऊपर भी व्यंग्य करता है।

प्रगतिवाद की उपलब्धि : नयी कविता—साहित्य की भाषा को लोक-भाषा के समीप खींचने का स्तुत्य प्रयास प्रगतिशील साहित्य ने किया था। उसने जन-भाषा, लोक-छन्द, लोक-परिचित प्रतीकों आदि का स्पर्श देकर साहित्य के शिल्प को अधिक लोक-ग्राह्य बना दिया। किन्तु इस प्रवाह में एक अहित भी हो

गया। अधिकाधिक लोक-ग्राह्य बनने के चक्कर में भाषा अपनी सांकेतिकता की शक्ति खोने लगी। इतिवृत्तात्मक विस्तार और सतहीपन आने लगा। एक वाक्य में कह दी जाने वाली बात रंगमंचीय उन्मेष के साथ दस वाक्यों में कही जाने लगी। शोषकों और शोषितों के जीवन से सम्बन्धित चित्रों और प्रतीक विशेषों की आवृत्ति पर आवृत्ति होने लगी। लोक छन्द की संगीतात्मक भंगिमा से कविता सशक्त तो हुई किन्तु अनेक बार वह लोकगीत की विषयगत शक्ति को न परख कर केवल उसके ध्वन्यात्मक शब्दों की अनुगूंज मात्र रह गयी। बाद में प्रगतिशील कवियों के तो गीतात्मक छन्द सीमित हो गये। पिछले खेवे के कवि-सम्मेलनी प्रगतिशीलों के गीतों के छन्द आश्चर्यजनक रूप से एक ही तुक-ताल के हो गए। अतः प्रगतिशील कविता में जो शक्ति और ताज़गी थी वह बाद में बासीपन में बदल गई। प्रगतिशील कविता से यहाँ मेरा मतलब उन कवियों की कविताओं से है, मात्र जिन्हें प्रगतिशील साहित्य के आचार्य लोग प्रगतिशील मानते है। बाकी को या तो कुछ मानते ही नहीं या प्रतिक्रियावादी मानते हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि प्रगतिशील कविता मरी नहीं बल्कि उसकी उच्चतम उपलब्धियों की परिणति नयी कविता में हो गयी और ये ही नये कवि (जो इन उपलब्धियों को स्वीकार करके चलते हैं) वास्तव में प्रगतिशील कविता के उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं। वे जहाँ के तहाँ नहीं हैं, उनका विकास हुआ है। **दुष्यन्त कुमार, श्रीकान्त वर्मा, केशु, ठाकुरप्रसाद सिंह, अजित कुमार, कीर्ति चौधरी आदि नवीनतम पीढ़ी के कवि इसी परम्परा में आते हैं।**

नयी कविता ने निरन्तर भाषा को, छन्द को सहज बनाने की कोशिश की है। बोल-चाल की भाषा और लहजे में बड़ी से बड़ी बात कह देना नयी कविता की सफलता है। नयी कविता की भाषा शब्दों की वजह से नहीं, अपनी सांकेतिकता, बिम्बात्मकता और नवीन प्रतीकात्मकता के कारण (कहीं-कहीं कवि की असमर्थता के कारण) दुरुह मालूम पड़ती है। नया कवि निरन्तर शिल्प के क्षेत्र में प्रयोग करता है। वह छन्द आदि किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार न कर कथ्य को नये-नये ढंग से व्यक्त करने की चेष्टा में है।

: ६ :

कविता और प्रचार

उपदेशात्मक कविता में साहित्यिकता हो सकती है या साहित्यिक रचनाओं में उपदेशात्मक स्वर हो सकते हैं या होने चाहिएँ, इस प्रश्न को लेकर पूर्व और पश्चिम में कम विवाद नहीं खड़े हुए। आज भी इस विवाद का अन्त नहीं हो पाया है। वर्तमान काल में उपदेश शब्द के लिए प्रचार (प्रोपेगण्डा) का अधिक प्रयोग हुआ है। और 'क्या साहित्य प्रचार है ?' के पक्ष-विपक्ष में बड़े-बड़े फ़तवे दिए गए हैं।

प्रस्तुत प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में विचार करने वाले समीक्षक और कलाकार मूलतः दो भिन्न-भिन्न साहित्यिक सिद्धान्तों से प्रेरित होते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि साहित्य में प्रचार नहीं होना चाहिये या उपदेशात्मक स्वर के कारण रचना की साहित्यिकता नष्ट होती है, वे यह मानते हैं कि साहित्य का मूल उद्देश्य है आनन्द की सृष्टि करना। पाठकों में आनन्द या रस का उद्रेक करने के अतिरिक्त साहित्य का अन्य कोई लक्ष्य होता ही नहीं। प्रचार करना, वाह्य व्यवस्था स्थापित करना, राजनीति और समाजनीति के माध्यम से सम्भव और उचित है। साहित्य इन सब के फेर में पड़कर अपनी रसात्मकता और रमणीयता खो बैठता है।

इसके विपरीत साहित्य में उपदेश को आवश्यक मानने वाले विचारक मूलतः इस धारणा से प्रेरित हैं कि साहित्य पाठकों में एक निष्क्रिय आनन्द पैदा कर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ ले ; इतना ही पर्याप्त नहीं है, वह सामाजिक सुधार का एक सक्षम अस्त्र है। जागरूक व्यक्ति अपने समाज को खुली आँखों से देखता है। समाज और कर्त्तव्य के सौन्दर्य और सद्धर्म से वह हर्षोत्फुल्ल हो उठता है। व्यक्ति और समाज की विसदृशताएँ और कुरूपताएँ उसके हृदय पर चोट पहुँचाती हैं। वह इस सामाजिक कुरूपता और हीनता पर आँसू बहाता है। उसके हृदय में इन कुरूपताओं को उच्छेद करने की लालसा जगती है। यदि वह उच्च कोटि का विचारक और स्वप्नदृष्टा है तो वह इन विरूपताओं और कुरीतियों को मिटा कर नयी छवियों और सुन्दर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना का आदर्श

कल्पित करता है और उन्हीं छवियों और सद्वृत्तियों का उपदेश देता है यानी उनका प्रचार करता है। दार्शनिक, राजनीतिक नेता, धर्म के मसीहा, साहित्यकार सभी सामाजिक प्राणी है और ये जागरूक व्यक्ति होने के नाते सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन-छवियों के स्वप्नदृष्टा होते हैं और ये सभी उन छवियों का अपने-अपने ढंग से प्रचार करते है। सब के स्वप्नों की सृष्टि का उद्देश्य जीवन ही होता है किन्तु उन स्वप्नों के प्रचार के तरीके अलग-अलग होते है।

तो हम विचार करे कि उपदेश और साहित्य का सम्बन्ध मानने वाले दृष्टिकोण की उपलब्धियाँ और सीमाएँ क्या हैं ? अभी यह प्रश्न यहीं छोड़ दिया जाए कि उपदेश का साहित्य से कैसा सम्बन्ध है ? अर्थात् उपदेशात्मक रचनाओं में किस सीमा तक साहित्य की सुरक्षा सम्भव है। अभी इस पर विचार कर लिया जाय कि उपदेश (जो विविध ज्ञान और कला के माध्यम से व्यक्त होता है) अपने विषयगत रूप में कितने प्रकार का हो सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि व्यक्ति समाज के बीच प्रसारमान विसदृशताओं का समूलोच्छेदन कर उनके स्थान पर कल्याणकारी जीवन छवियों को प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि उपदेश में व्यक्त होने वाले आदर्श या अलक्षित सत्य किसी व्यक्ति की कल्पना मात्र हैं या वे नवीन सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि पर उपज रहे हैं। यदि नवीन सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि पर व्यक्ति स्वप्न-सृष्टि करेगा तो उसकी स्वप्न-सृष्टि वैयक्तिक कल्पना न होकर एक विराट सामाजिक सत्य पर आधारित आदर्श का रूप ग्रहण कर लेगी। ऐसी स्थिति में वह एक संस्थागत दृष्टिकोण का आकार पा लेगी। दूसरी बात देखने की यह होती है कि उपदेश में व्यक्त होने वाला स्वप्न कहीं पुराने स्वप्नों की निर्जीव आवृत्ति तो नहीं है ? ऐसे स्वप्नों और समाधानों में सामाजिक प्रश्नों को हल करने की शक्ति नहीं होती, क्योंकि वे नवीन प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्राचीन आदर्शमूलक आप्त वाक्यों से करना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि इन उपदेशों में रूढ़ि और कठोरता होती है; नये मानव, नये समाज, नये प्रश्नों को समझने की क्षमता नहीं होती अतः उनके प्रति सहानुभूति और संवेदना भी नहीं होती। वे प्रश्नों और उनके समाधानमूलक आदर्शों को सदैव एक शाश्वतता के अंचल में बाँधना चाहते हैं। ऐसे आदर्श और स्वप्न-मूलक उपदेश अपने विषय (content) में ही दूषित होते हैं। अतः इन्हें

उपदेश के द्वारा मुखर करना मानवता के प्रति घात करना है। इसी बात को समझ न सकने के कारण अनेक पुराने धार्मिक सम्प्रदाय अपना जीर्ण-शीर्ण रूढ़ और निर्मम अस्तित्व सँभाले हुए आज भी मानवीय पीड़ाओं और हीनताओं की शाश्वत दवा बाँटते फिरते है। उनके घिसे-घिसाए साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के पन्नों में सभी रोगों के नुस्खे धरे पड़े हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इन सम्प्रदायों में दीक्षित हर एक छोटा-बड़ा, पण्डित-मूर्ख, पिटे-पिटाए ज्ञान का उपदेश देता है और इन्हीं पुराने पिष्टपेषित उपदेशों को सुनते-सुनते 'ले मैन' (सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति) भी शाश्वत आदर्श झाड़ने लगता है—अर्थात् इनके उपदेशों के पीछे व्यक्तिगत और सामाजिक नवीन परिस्थितियों के आधार पर प्राप्त कोई नवीन चिन्तन नहीं होता वरन् प्राचीन आदर्शों की लीक पीटने का एक मोटा संस्कार होता है। समाज में ऐसे ही संवेदनहीन उपदेश-प्रवर जनों का बाहुल्य देखकर गोस्वामी तुलसीदास को कहना पड़ा था—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।"

उपदेश के इन दोनों विषयगत स्वरूपों को देखने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपदेश बहुत उच्च कोटि की वस्तु है, यदि उसके पीछे सामाजिक और मानवीय हित की भावना काम कर रही हो। कहा जा चुका है कि उपदेश का सम्बन्ध आदर्शों और सुन्दर स्वप्नों से होता है और ये आदर्श और स्वप्न मानव-मगल के लिए मनीषियों के मस्तिष्क और हृदय में उत्पन्न होते हैं। उपदेशों के वक्तव्य-विषयों में युग और समाज के अनुरूप गतिशीलता होती है, क्योंकि उनके वक्तव्य-विषय तो समाज और जीवन ही होते हैं। इसलिए यदि हम प्राचीन काल से लेकर आज तक के जीवन-द्रष्टा और आदर्श-स्थापक ग्रन्थों की छान-बीन करें तो उनमें सामाजिक और युगीन गतिशीलता के साथ निरन्तर परिवर्तित विभिन्न युगों के महापुरुष अपने-अपने युग के समाज के अनुरूप व्यवस्था देते हैं—अर्थात् बदले हुए समाज के बदले हुए सम्बन्धों, दृष्टिकोणों, नैतिक मान्यताओं और नवीन जीवन-चेतनाओं का वे अध्ययन करते हैं और संवेदनशील हृदय और विवेकशील मस्तिष्क से समाज का नया चित्र अंकित करते हैं तथा उनका प्रचार करते हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ जीवनादर्शों की स्थापना करने वाले विविध माध्यमों में कभी एक शक्तिशाली

पड़ता है कभी दूसरा। जैसे प्राचीन काल में हमारे व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन की बागडोर धार्मिक मान्यताओं और संस्थाओं के हाथ में थी। अतः कभी ज्ञान, कभी कर्मकाण्ड, कभी भक्ति का स्वर प्रधान रहा। भक्ति के क्षेत्र में विभिन्न समयों में विविध भक्ति-प्रणालियों की प्रधानता रही है। आधुनिक काल के प्रारम्भ में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि जैसी संस्थाओं ने जीवनादर्शों को अत्यधिक प्रभावित किया। बाद में कांग्रेस जैसी राजनीतिक संस्थाओं ने समूचे देश की चेतना को झकझोरा और सबकी आँखों में स्वदेश की स्वतन्त्रता और गौरव का चित्र अंकित किया। आज अनेक धार्मिक संस्थाएँ, परम्परागत दार्शनिक संस्थाएँ शेष हैं किन्तु नवीन जन-चेतना के निर्माण में इनका कोई हाथ नहीं है। आज राजनीतिक संस्थाएँ नव निर्माण में संलग्न हैं और उन्हीं के हाथ में अत्यधिक शक्ति केन्द्रित हो गयी है। तात्पर्य यह है कि उपदेश रूढ़ और पिष्टपेषित न होकर युगानुरूप गतिशील हों तभी उनकी सार्थकता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्य में उपदेशों का व्यवहार हो कि न हो और यदि हो तो किन रूपों में? ऊपर संकेत किया जा चुका है कि आनन्दवादी वर्ग साहित्य में किसी भी प्रकार की उपयोगिता और वाह्यचेतना को चित्रित करने के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है; वह राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि से अनुशासित क्यों हो, प्रभावित क्यों हो? उसका क्षेत्र व्यक्ति का रागात्मक हृदय है, उसी के विविध सहज भावों का अंकन करना साहित्यकार का उद्देश्य है।

"नीति? इस विपुल सृष्टि के मूल में क्या नीति है? क्या प्रयोजन है? क्या तत्व है? प्रतिदिन असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं, असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं, उत्पन्न होकर फिर अपने प्रेम-घृणा, सुख-दुख, हँसी-रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त में विलीन हो रहे हैं। इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है? अर्थ कुछ भी नहीं। यह केवल भूमा के सहज आनन्द की लीला है। विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है। वही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना

सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" (साहित्य सर्जना, पृ० १५ इलाचन्द्र जोशी) और फिर जोशी जी देश और विदेश के अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थों को नीति से शून्य और आनन्द उत्पन्न करने की शक्ति से मण्डित मानते हैं। वे कला ग्रन्थों में नीति और उपयोगिता ढूंढने वाले आलोचकों की हँसी उड़ाते हैं। जोशी जी की ही भांति सोचने वाले देश और विदेश में अन्य अनेक कला-वादी, मनोविश्लेषणवादी, प्रकृतिवादी, अस्तित्ववादी कलाकार और समीक्षक हैं।

किन्तु कला में उपदेश को स्थान देने वाला दूसरा दल यह कहता है कि सभी प्रकार के ज्ञान और कला की विधाओं के मूल में सामाजिक जीवन है। उस जीवन को क्रमशः उत्थान की ओर ले जाना ही विज्ञान और कला का कर्त्तव्य है। कला और विज्ञान जीवन के हित साधन के विभिन्न माध्यम हैं किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है। साहित्य, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति सभी एक ही केन्द्रीय चेतना से अनुप्राणित होने के नाते एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। साहित्य सदैव से जीवन के बहुमुखी क्षेत्रों और विपुल ज्ञान-शाखाओं की शक्तियों को अपनी उदार बाहों से समेटता आया है। बड़े से बड़े दार्शनिक, भक्त, धर्म-संस्थापक, राजनीतिक नेता आदि—जो सामाजिक जीवन की चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं—साहित्य के वर्ण्य विषय बने हैं और उनके माध्यम से साहित्य ने विविध प्रकार के आन्दोलनों और आदर्शों को मुखर किया है।

इसी कारण साहित्य में प्राचीन काल से ही ऐसे विचारक होते आए हैं जो साहित्य में उपदेश के पक्षपाती दिखाई पड़ते हैं। "कान्तासम्मितउपदेश" कहने वाले मम्मटाचार्य, "कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्, आल्हाद्यमृतवत्-काव्यम्विवेक गदापहम्" की घोषणा करने वाले आचार्य कुन्तक, "भूषन भनिति भूति-भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई" के उद्घोषक गोस्वामी तुलसीदास काव्य के उपयोगिता वाले पक्ष पर विशेष बल देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस के माध्यम से लोक-जीवन का जो उत्कर्ष किया, उसके प्रत्येक सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर को छू कर जो प्रभावित किया, वह स्पष्ट है।

हिन्दी के नवीन साहित्यकारों को देखें तो उनमें भी अधिकांश ऐसे ही हैं जो साहित्य के माध्यम से लोकमंगल की साधना आवश्यक मानते हैं। आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल पक्ष पर विशेष बल दिया है। प्रेमचन्द की दृष्टि भी सामाजिक हित की ओर लगी थी। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह मानवतावादी स्थापना कि साहित्य वही है जो मनुष्य को निरन्तर पाशव स्तर से उठा कर देवत्व या उदात्त मनुष्यता की ओर अग्रसर करे, इसी सत्य की घोषणा करती है। प्रगतिवाद साहित्य में उपयोगितावाद का घोर पक्षपाती है। पश्चिम में भी टाल्स्टाय, गोर्की आदि अनेक साहित्यकार साहित्य में उपदेश के हिमायती हैं।

यह निर्विवाद है कि साहित्य और उपदेश में कोई विरोध नहीं है क्योंकि साहित्य जीवन की वास्तविकताओं और आदर्शों को चित्रित एवं प्रतिष्ठित करने का एक साधन है, वह अपने आप में साध्य नहीं है। उच्च कोटि के उपदेश जीवन से और जीवन के लिए निःसृत होते हैं। अतएव साहित्य उन्हें अपने में धारण करता है। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि साहित्य में उपदेश प्रतिफलित कैसे हो ? सभी प्रकार के उपदेश देने वाले पद्य काव्य कहे जायेंगे ? या उपदेश से रहित साहित्य साहित्य नहीं कहा जायगा ? कहा जा चुका है कि उपदेश या जीवनादर्श या स्वप्न विविध माध्यमों से व्यक्त होते हैं। साहित्य भी उन्हें व्यक्त करने का एक शक्तिशाली—सब से अधिक शक्तिशाली—माध्यम है। साहित्य-शास्त्रियों ने बार बार इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि साहित्य में उपदेश व्यंग्य होता है वाच्य नहीं होता है। मम्मटाचार्य का "कान्तासम्मितयोपदेशयुजे" स्पष्टतः साहित्य के उपदेशों को अन्य उपदेशों की अभिव्यक्ति-प्रणाली से भिन्न मानता है। कहा गया है कि वेद, उपनिषद् आदि का उपदेश प्रभुसम्मित होता है अर्थात् ये सब मालिक की भाँति आज्ञा के स्वर में उपदेश देते हैं—सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, माता-पिता की आज्ञा मानो आदि आदि। इतिहास मित्रों की भाँति दृष्टांतों, कथाओं द्वारा मित्रसम्मित उपदेश देता है—ऐसा करने से ऐसा फल मिल सकता है जैसा कि अमुक को मिला। साहित्य पत्नी की भाँति मधुर ढंग से उपदेश देता है। साहित्य के उपदेश को पाठक बड़ी मधुरता के साथ पी लेता है, उसे उसके माधुर्य रस के साथ उपदेशक के सूखेपन का पता ही नहीं चलता। साहित्य पढ़ने से पाठकों को आह्लाद मिलता है, उसी आह्लाद के साथ जब उपदेश उसके भीतर प्रवेश कर अपना स्वास्थ्यवर्द्धक कार्य करने लगता है तब उसे ज्ञात होता है कि मैंने पौष्टिक चीज भी खाई है। इसी सत्य को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूपकों द्वारा व्यक्त किया है। कहने

का तात्पर्य यह है कि साहित्य का उपदेश स्पष्ट या वाच्य नहीं होता बल्कि वह सांकेतिक होता है, उसे जागरूक पाठक पकड़ लेता है।

साहित्य का मूल क्षेत्र है मानव-जीवन का रागात्मक पक्ष, और रागात्मक पक्ष मानव-जीवन का कितना शक्तिशाली अंश है, इसे सब जानते हैं। रागात्मक पक्षों से मानव संचालित होता है और उन्हीं क्षेत्रों में वह डूबता उतराता है। रागहीन मनुष्य सिद्धान्त का निर्जीव पुतला हो सकता है, वह सामाजिक प्राणी तो हो ही नहीं सकता। मनुष्य के हास-रुदन, प्रेम-घृणा, भय आदि को उससे छीन लीजिये तो उसके जीवन में रह ही क्या जायगा? साहित्य मनुष्य के रागात्मक भावों को अपना कार्य क्षेत्र बनाता है। उन्हीं रागात्मक भावों के माध्यम से जब वह कोई उपदेश की बात कहता है तो पाठकों का हृदय उसे अनायास ही ग्रहण कर लेता है और अनेक रागात्मक हृदय एक साथ प्रभावित हो उठते है। यही कारण है कि सभी युगों में साहित्य के प्रसार का सबसे अधिक शक्तिशाली और व्यापक अस्त्र रहा है। वह बड़े से बड़े बौद्धिक और सामान्य से सामान्य जन को एक साथ प्रभावित करता है।

मैं कह रहा था कि साहित्य का मूल क्षेत्र राग है। वह रागों का भी व्याख्यान नहीं करता और शुष्क उपयोगिता का तो बिल्कुल नहीं। वह अभिप्रेत प्रभाव पैदा करने के लिए लोकजीवन के बीच से किसी पात्र, किसी मार्मिक घटना या दृश्य को चुन लेता है और उनका मार्मिक चित्र खींचता है। उन चित्रों में कलाकार अनुकूल मात्रा में आन्तरिक भाव-छवियों, वाह्य रूप-रेखाओं और क्रिया-व्यापारों पर रंग फेरता है। उन चित्रों के रंग-रेखाओं का चयन इस कुशलता से करता है कि जागतिक यथार्थ का मार्मिक चित्र निर्मित होने के साथ साथ कलाकार के अभिप्रेत आदर्श और स्वप्न भी ध्वनित हो उठते हैं। कलाकार अंगुलिनिर्देश मात्र करता है—चिल्ला चिल्ला कर घोषणा नहीं करता कि यह देखो, इधर देखो, मैं यह कह रहा हूँ।

यह लक्षित करने की बात है कि वेद शास्त्र की सूखी आज्ञाएँ हम रोज सुन कर भी नहीं सुनते। हमारे हृदयों पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता। और तो और उपदेश प्रवचन करने वाले स्वयं भी उन उपदेशों का आचरण नही करते। अतएव जो लोग उपदेशों को पद्यबद्ध करके या पद्यों में सीधा उपदेश देकर यह समझते हैं कि उन्होंने कवि और सुधारक दोनों का कार्य पूरा कर

दिया, वे भ्रम में हैं। वास्तव में उन्होंने दोनों में से एक भी नहीं किया। ऐसे ही पद्यबद्ध उपदेशों के कारण विरोधी उपदेशात्मक कविताओं का विरोध करते हैं। किन्तु घोर से घोर उपयोगितावादी दार्शनिक जो साहित्य के मर्म को समझते हैं, इस प्रकार के साहित्य और उपदेश दोनों का विरोध करते हैं। मार्क्सवाद अपने नारों और दलगत प्रचारों के लिए कुख्यात हैं। किन्तु मार्क्सवाद के मनीषी स्वयं एंगेल्स के साहित्य सम्बन्धी विचार इतने सुचिन्तित हैं कि उन्हें स्वीकार करने में किसी को आपत्ति न होगी। मार्क्सवाद सामाजिक यथार्थ का प्रचारक है। वह जर्जर पूंजीवादी सभ्यता को मिटाकर साम्यवाद की स्थापना करना चाहता है। उसका दृष्टिकोण है कि वर्तमान शासन व्यवस्था के पाट में पिसते हुए समाज के दुःख-दर्दों तथा संघर्षों का चित्र साहित्य प्रस्तुत करे लेकिन वह इस अभावमय वर्तमान यथार्थ को भावी समाज-निर्माण की आशा और विश्वास की ध्वनि से ध्वनित करे। ध्वनित करने का माध्यम खुला प्रचार न हो बल्कि ऐसी परिस्थितियों और क्रिया-व्यापारों का यथार्थ चित्र उपस्थित किया जाय कि उद्देश्य अपने आप फूट निकले। लेखक को अपनी ओर से चित्रित सामाजिक संघर्षों का कोई भावी ऐतिहासिक हल पाठकों पर नहीं लादना चाहिये—

But I think that the bias should flow itself from the situation and action without particular indication and that the writer is not obliged to obtrude on the reader the future historical solution of social conflict pictured.

[Fredrick Engels' letter to Minna Kaustky

यदि हम साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि दौड़ाएँ तो पता चलेगा कि सीधे-सीधे उपदेश देने वाली पद्यात्मक कृत्तियो से रसात्मक कविताएँ जीवन्त हैं, बशर्ते कि उनमें स्वस्थ जीवन का रक्त प्रवाहित है। कबीर, तुलसी, जायसी, रहीम, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और अनेक आधुनिक कवियों की विविध कविताओं की परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि इन कवियों के रूखे, सीधे-सीधे उपदेश न तो कोई पढ़ता है और न उनसे कोई प्रभावित होता है। कबीर ने बहुत से दोहों में ज्ञान, भक्ति और सामाजिक सत्यों का उपदेश दिया है और पदों में लौकिक रूपकों और रागात्मक सम्बन्धों को लेकर भक्ति के रसमय गीत गाये हैं। सहृदय स्वीकार करेंगे कि इन पदों में मानव हृदय को प्रभावित करने की तथा उन्हें

उदात्त बनाने की अधिक क्षमता है। तुलसी के मानस में अनेक पात्रों के जीवन की विविध परिस्थितियों के बाहरी-भीतरी चित्र खींच कर सामाजिक सत्य का सर्वांग निरूपण हुआ है, साथ ही साथ सत् के प्रति आस्था और असत् के प्रति अनास्था पैदा करने की क्षमता भी उसमें अद्भुत है। जहाँ तुलसी ने रूखे उपदेशक का रूप धारण किया है वहाँ वे सन्तों के ही काम के रह गए हैं। यही बात अन्यान्य कवियों की कविताओं पर भी लागू होती है। इन दोनों प्रकार की कविताओं में वही अन्तर समझ लीजिए जो अन्तर एक निष्क्रिय पर उपदेश कुशल और एक सदाचारी पर मौन व्यक्ति में होता है। निष्क्रिय व्यक्ति कितना भी उपदेश झाड़े, उसकी बात का असर लोगों पर नहीं हो सकता किन्तु एक सदाचारी व्यक्ति अपना काम करता रहता है, किसी को कुछ उपदेश नहीं देता। उसके आचरण से लोग प्रभावित होते हैं। उसके आचरण की मौन भाषा सबके कानों में गूँजती है और वह हृदय तक पैठ जाती है। लोग उस आदर्श व्यक्ति का अनुकरण करने लगते हैं। इस सत्य को ध्वनित करने वाली हमारे यहाँ अनेक पौराणिक कथाएँ मौजूद हैं।

इस सम्बन्ध में अन्तिम निवेदन कर अपना निबन्ध समाप्त करना चाहता हूँ। उपयोगिता कितने प्रकार की हो सकती है? अर्थात् उपदेश की कोई निश्चित सीमा होती है या अनिश्चित? स्थूल रूप से लोग उपदेश उन्हीं को कहते हैं जिनसे कोई सामाजिक आचार, नैतिक शिक्षा-दीक्षा, दार्शनिक सिद्धान्त, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था का प्रचार होता हो। किन्तु इन वाह्य उपादेयताओं के अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म और मानसिक उपयोगिताएँ भी हैं, जिनकी पूर्ति साहित्यिक उपदेशों से होती है। साहित्य यदि इन वाह्य उपयोगिताओं का प्रचार न भी करे तो भी उसका सम्बन्ध मानसिक उपयोगिता से होता है। बात यह है कि साहित्य मनुष्य के सुप्त रागों और सौन्दर्य बोधों को जाग्रत करता है। वह उसकी सम्वेदनाओं को व्यापक और गहरा बनाता है। साहित्य के निरन्तर मनन से मनुष्य का हृदय उदार और लोकव्यापी हो उठता है। उसका चित्त लोक-चित्त हो उठता है। उसके चित्त से जाति-पाँति, प्रान्त, राष्ट्र आदि के क्षुद्र आवरण हटते जाते हैं और वह शुद्ध मानवीय-भाव लोक का निवासी होने लगता है। उसका सौन्दर्य-बोध जाग्रत होकर सुन्दर मानवीय प्राकृतिक छवियों, सुन्दर मानवीय व्यापारों, सुन्दर मानवीय आचरणों से प्रेम करने लगता

है और अन्याय और कुरूपता के प्रति उसके मन में विरक्ति और रोष का भाव पैदा होता जाता है। मानव हृदय का अनुपम परिष्कार साहित्य के द्वारा सुलभ है और यह उपयोगिता नहीं है तो और क्या है ? इसमें सब से महत् उपदेश छिपा हुआ है।) शर्त यह है कि साहित्य सत् साहित्य हो, उसमें किसी संकीर्ण व्यक्तिगत और क्षुद्र वासना का प्रचार न किया गया हो। सूरदास का बाल-वर्णन, विरह वर्णन स्पष्टतः स्थूल उपदेश गर्भित न होकर भी कितनी विराट् मानवीय संवेदनाओं से आन्दोलित है। लेकिन इस प्रकार की स्थापनाओं को इलाचन्द्र जोशी आदि की लीलावादी स्थापनाओं से भिन्न समझना चाहिए। लीलावादियों के मत में साहित्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई प्रयोजन ही नहीं होता—सिवा लीला व्यक्त करने के।

: १० :

नयी कविता और गीत-काव्य

नयी कविता के आन्दोलन ने नवीनता के ग्रहण में जिन वस्तुओं का परित्याग किया उनमें बेचारा गीत-काव्य भी है। नये कवियों ने यह अनुभव किया कि वे नयी कविता के माध्यम से जो कुछ कहना चाहते हैं उसे गीतों के माध्यम से नहीं कहा जा सकता। नयी कविता के पक्षधर अच्छा से अच्छा गीत लिखने वालों को नयी कविता में स्थान देने को तो तैयार नहीं हैं, कवि रूप में भी वे उन्हें स्वीकार नहीं करते। अतः गीतकारों ने गीत के साथ-ही-साथ या गीतों को विदा करके, नयी कविता लिखना प्रारम्भ किया। अपने प्यारे गीतों को विदा करते समय रो-धो कर उन्होंने घोषणाएँ कीं कि जाओ यह युग तुम्हारे योग्य नहीं रहा। यह युग संघर्षों का है, बौद्धिकता का है, कठोर वास्तविकता का है। ये कवि नयी कविता की वैशाखी पर लंगड़ाते हुए चल पड़े। एक ओर ये अपने कवि-व्यक्तित्व की मूल गीत-धर्मिता खो बैठे और दूसरी ओर नयी-कविता की बारीकियों को न समझ सके। ऊपरी सफलता की दृष्टि से सबसे अभागे कवि वे रहे, जो नयी कविता के तथाकथित पक्षधरों के सम्प्रदाय में दीक्षित न हो पाए।

दूसरी ओर गीतकारों का एक विशाल समुदाय गीत की टेक पर अड़ा हुआ नयी कविता का उपहास कर रहा है। इनकी दृष्टि में नयी कविता लिखने वाले, गीतों और छन्दबद्ध कविता का विरोध इसलिए करते हैं कि उन्हें गीत या छन्द लिखने का शऊर नही है। ये गीतकार अपने को जनता के सच्चे दुःख-दर्द का गायक मानते हैं। इसीलिए ये कवि-सम्मेलनों में जनता का मनोरंजन और स्फूर्ति-स्फुरण कर यश प्राप्त करते हैं, किन्तु नयी कविता लिखने वाले टटपूँजिए कवि (जिनके पास छोटे-बड़े गद्यात्मक वाक्यों के द्वारा कुछ ऊटपटाँग बातें कहने के सिवा और कुछ नहीं होता) जनता से भय खाते हैं। जनता इनके भावात्मक दिवालिएपन पर इनका मुँह ताकती है। इसलिए ये कवि जन-यश प्राप्त करने वालों से ईर्ष्या करते हैं और गीतों की अवहेलना। उपर्युक्त-प्रकार की अतिवादी घोषणाओं से अलग हटकर वस्तु-स्थिति पर विचार करने की आवश्यकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जो गीत लिखे जाते हैं, वे किसी विशेष उद्देश्य से लिखे जाते हैं। शायद कवि-सम्मेलनों के श्रोताओं का मनोरंजन ही उनका उद्देश्य है। वास्तव में गीत के माध्यम से अन्तर की कोइ बेगवती स्फूर्ति, कोई सौन्दर्यानुभूति,कोई रागबोध, कोई व्यक्तिगत या सामाजिक चेतना अपनी एकतानता और तीव्रता के साथ फूट पड़ती है। उसमें संक्षिप्तता होती है, और उसमें एक गीत की मूल-शक्ति व्याप्त होती है। किन्तु आज के अधिकांश जन-यश विजयी गीतकारों के गीत देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके गीतों में कोई मूल चेतना नहीं है जो सम्पूर्ण गीत में अपने आप परिव्याप्त हो सके बल्कि गीतकार कुछ चमत्कारपूर्ण उक्तियों, कुछ समाज के शाश्वत और सामयिक तथ्य-खंडों, कुछ भीगे-भीगे अलंकारों को पहले एकत्र कर लेता है और फिर उन्हें गूँथ कर एक गीत तैयार कर देता है, जैसे यहाँ-वहाँ की डालों और पत्तों को बटोर कर एक पेड़ तैयार कर दिया जाए, जो कुछ घड़ियों के लिए सतही दृष्टि वालों को विभ्रम के सुख में डाल कर फिर मुरझा जाए। ऐसे गीतकारों के दल बन गये हैं, सम्प्रदाय बन गये हैं, ढाँचे बन गये हैं। उनका एक लहजा बन गया है, उनकी लयभंगी और अंगभंगी बन गयी है, उनके मंच अलग हैं, उनकी पत्रिकाएँ अलग हैं। भाव, विषय और छन्द की दृष्टि से इनमें अद्भुत एकरसता दिखाई पडने लगी है।

नयी कविता लिखने वालों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के वे सभी नये-पुराने कवि आते हैं जो नये शिल्प में नयी सवेदनाएँ व्यक्त कर रहे हैं। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, त्रिलोचन शास्त्री, केदारनाथ अग्रवाल, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह आदि ने सुन्दर-से-सुन्दर गीत और छन्दबद्ध कविताएँ लिखी हैं। फिर भी इन कवियों ने गीतों को छोड़ दिया—समय के तक़ाजे से या देखा-देखी। कुछ लोग शिकायत करते हैं कि अमुक आदमी बड़ा अच्छा गीतकार था किन्तु अब गीत छोड़ कर बेकार की कविताएँ गोंज रहा है। किन्तु वास्तव में बहुत से कवियों ने अपने गीतों के लिए नये काव्य-साहित्य में स्थान न देखकर ही उन्हें छोड़ दिया।

नयी कविता को जो लोग प्रयोगवाद का उत्तराधिकारी या परिवर्तित नाम मानते हैं, उनकी दृष्टि में नयी कविता विघटित, अनास्था-निराशाग्रस्त, अतृप्त, कुंठित मध्यमवर्गीय समाज के व्यक्ति की उलझी संवेदनाओं की नये शिल्प में

अभिव्यक्ति है। किन्तु इन दिनों जो नयी कविता लिखी जा रही है उसकी उपलब्धियाँ केवल प्रयोगवाद की देन हों—ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें प्रगतिवादी काव्य के विकास का नवीनतम उन्मेष भी लक्षित होता है। इसी-लिए नयी कविता में अनास्था, अतृप्ति और व्यक्तिवादी सीमाओं के साथ-ही-साथ सामाजिक संघर्ष, शक्ति और आस्था भी चित्रित है। अँधेरे की घुटन के साथ ही प्रकाश की ताजगी, विघटित विश्वासों के साथ नवीन संघटन और स्थापनाओं के प्रति संभावनाएँ भी दिखाई पड़ती हैं।

कवि छन्दों का आग्रह छोड़ कर एकदम गद्य पर उतर आया है। जीवन के क्षण आज छन्दात्मक नहीं रह गये हैं और जीवन के सभी क्षण तो छन्दात्मक कभी नहीं थे। क्षण आज की वास्तविकता में गद्यात्मक हो गये हैं—ठोस व्यावसायिक, शुष्क और संक्षिप्त। इन्हें रूप देने में छन्द समर्थ नहीं हैं। गीले छन्दों से आज की जिन्दगी नहीं लिखी जा सकती। इन गद्यात्मक क्षणों और अनुभूतियों के लिए छन्द किराये की पोशाक मालूम पड़ते हैं। आज के उलझे-सुलझे भावों के उतार-चढ़ाव, संकोच-आस्फालन को व्यक्त करने की क्षमता छन्दों में नहीं दीखती। छन्द अनुप्राणित होते हुए एक रस सरकते रहते हैं। छन्दों में शब्दों की मितव्ययिता भी अपेक्षाकृत कम आ पाती है। विरोधाभास-सी लगने वाली यह बात सुन कर कुछ लोग चौंकेंगे, किन्तु बात ठीक है। छन्द के आग्रह से अनावश्यक रूप से कुछ शब्दों को जोड़ना पड़ता है, जो कभी-कभी किरकिरी से प्रतीत होते हैं। कभी-कभी मात्रा-पूर्ति के लिए सार्थक छोटे शब्दों के स्थान पर भारी भरकम किन्तु अनुपयुक्त पदों को रखना पड़ता है।

नयी कविता गद्य की सहजता को अपनाकर भी गद्य की शुष्कता से एक-दम बची रही। दूसरी ओर वह व्यर्थ के शब्दों का अपव्यय करने के दोष से दूर रही। नयी कविता प्रमुख रूप से अतुकान्त और मुक्त छन्दों की आग्रही है। मुक्त छन्दों में पहले तुक तो नहीं थी किन्तु उनमें छन्द का प्रवाह या लय जरूर थी। नये कवियों ने छन्द के बाहरी प्रवाह को तोड़ दिया, किन्तु उसमें अन्तर्लय (अर्थ की लय) भर दी। गद्य-सी दिखाई पड़ने वाली कविताएँ भी एक अन्तर्लय से युक्त हैं। यह अन्तर्लय गद्य-सी दिखाई पड़ने वाली पंक्तियों में काव्यात्मक भंगिमा भर देती है। केवल गद्य की छोटी-बड़ी पंक्तियों में कुछ कह देने से नयी कविता नहीं बन जाती। इन्हें लिखने के लिए अधिक चित्रात्मक कुशलता,

संग्रहत्याग की परख, एकान्विति उत्पन्न करने वाली विशेषताओं की पहचान और प्रतीक-विधान के मर्मज्ञान की अपेक्षा होती है। इसीलिए नया आस्वाद चाहने वाले पाठकों को इन कवियों में अधिक रस और ताजगी मिलती है। नयी कविता के शिल्प में उसके प्रतीक विधान का बड़ा हाथ है। कहीं-कहीं ये नवीन प्रतीक निश्चय कही वि के दुराग्रह या नयी चीज तोड़ लाने की सनक या प्राचीन के प्रति कोरी प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति के परिचायक होकर हास्यास्पद हो जाते हैं किन्तु उनकी सफलताओं को हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

नयी कविता के इस परिपार्श्व में गीतों को देखें तो यह ज्ञात होगा कि नयी कविता द्वारा ध्वनित कथ्य गीतों द्वारा सहजता से व्यक्त नहीं हो सकता। किन्तु साथ ही सवाल यह उठता है कि क्या हमारी मनःस्थिति बिलकुल ही ऐसी नहीं रही कि हम गीत गा सकें। गीतों को जन्म देने वाले भावावेगों से क्या हमारा हृदय सर्वथा रिक्त हो गया है? उत्तर नकारात्मक होगा। हम इतने बौद्धिक हो गये हैं, हमारी व्यवसाय-वृत्ति बढ़ती जा रही है, फिर भी हम गीत-संगीत का दामन नहीं छोड़ना चाहते। कभी किसी रूप के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए, कभी सौन्दर्य का बिम्ब-विधान करने के लिए, कभी अपने गम-गलत करने के लिए गीत गाते हैं। अभाव और दुःखों के कुहरे से घिरी जनता आज भी व्यक्तिगत और सामूहिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के लिए गीत गा उठती है, हम त्यौहारों, खेत-खलिहान तथा अन्यान्य श्रम के कार्यों, राष्ट्रीय पर्वों पर सामूहिक गीत गाते हैं। इन गीतों के बिना ये क्षण अधूरे या कि सूने लगते हैं। कैसे कहा जा सकता है कि ये सब हमारे जीवन के भाग नहीं हैं? कहने का मतलब यह है कि गीत गाने की प्रवृत्ति चिरंतन है और आज के लिए भी असामयिक नहीं। वह जीवन और साहित्य का सशक्त अंग है, भले ही नयी कविता के कुछ स्वयंभू आलोचक उसे पीछे की ओर पलायन की प्रवृत्ति समझें। अतः साथ-ही-साथ यदि स्वस्थ गीतों की परम्परा का विकास हो तो शुभ बात होगी। आवश्यकता है उनमें नये युग के अनुरूप नये तत्त्वों और नये शिल्प के विकास की। गीत मूलतः निजी दुःख-सुख की अनुभूतियों की गेय अभिव्यक्ति माने गये हैं। आज का गीतकार इस सीमा से आगे जाकर अपने समाज-संवेगों को गीतों में मुखर करे तो अच्छा होगा। प्रगतिशील गीतकारों ने ऐसा किया अवश्य किन्तु उनकी सीमाएँ थीं। आज

गीतों को सामाजिक होने के साथ-ही-साथ अधिक व्यंजक और कलात्मक होने की आवश्यकता है। उनमें संवेदना की (चाहे वह बड़ी हो या छोटी) अधिक गहराई अपेक्षित है। नये सामाजिक मूल्यों को पहचान कर, नये यथार्थ जगत से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, लोक-जीवन की संवेदनाओं और शक्तियों से रस लेकर मानस की गहराइयों में उभरने वाले भाव और अनुभूति-बिम्बों की बारीकियों की परख कर के ही नये गीतों की रचना हो सकती है। ये गीत गीतों के सहज धर्म की रक्षा करने के साथ ही साथ नयी-कविता के साथ चल सकेंगे (यद्यपि दोनों का मौलिक अन्तर तो बना ही रहेगा)।

गीतों को नया शिल्प देने की अपेक्षा है। लोक जीवन और लोकछन्दों का स्पर्श गीत के शिल्प को नयी छवि दे सकता है। काफी गीतकारों ने इस दिशा में लेखनी चलायी। खेतों-खलिहानों, फसलों, बाग़-बगीचों, गाँव की मिट्टी, आसमान की धडकन गीतों में गूँजी और साथ ही लोक-छन्दों की भंगिमा और पदावलियों के स्पर्श से ये गीत बड़ी ताजगी से महक उठे। किन्तु बाद में अंधी अनुकृति और भद्दे निरर्थक ढंग से केवल लोच और ध्वन्यात्मकता के प्रयोग के कारण ये गीत बासी पड़ने लगे—'बासन घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' लोकगीतों की अन्तर्शक्तियों, लोक-जीवन के नये अछूते किन्तु सार्थक प्रतीकों, शब्दों की जगह अर्थ-भंगिमा को पहचानने और ग्रहण करने से ही ये गीत शक्तिशाली हो सकते हैं। चटकीले भड़कीलेपन के साथ चमत्कारी बातों या विरोधाभास उत्पन्न करने वाली कुछ विचित्र उक्तियों या सुन्दर अनुप्रासों, खूब चस्पा बैठने वाली तुकों की योजना करने के स्थान पर नयी कविता की सी सादगी और थोड़े में मूल प्रभाव उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को ग्रहण करके ही गीत आज के अनुरूप हो सकते हैं। गीतों में आज भाव के अनुसार छोटी-बड़ी पंक्तियाँ सहजता की रक्षा के लिए रखी जा सकती हैं। छायावादी गीतों में पन्त जी ने ऐसे प्रयोग किये हैं। 'अज्ञेय' ने भी ऐसे गीत लिखे हैं। आज के गीतों में प्रगतिवादी जोश-खरोश व्यक्त करने के लिए, कोई राजनीतिक आन्दोलन की बात करने के लिए, कोई कथा कहने के लिए जो लम्बी-लम्बी इतिवृत्तात्मकता लायी जा रही है वह कवियों के लिए कवि-सम्मेलनों में वाहवाही का कंचन भले ही बरसाये, किन्तु गीतों को तो मटियामेट ही कर देती है।

: ११ :

कामायनी में सौन्दर्य निरूपण

'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं' इन पंक्तियों में कवि ने सौन्दर्य के वस्तुगत (objective) और व्यक्तिगत (subjective) दोनों पक्षों की ओर संकेत किया है। 'सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है।' इसका वस्तुगत विश्लेषण इस बात की ओर निर्देश करता है कि वाह्य सौन्दर्य के साथ यदि भीतर का प्रकाश (चेतना का आलोक) किसी को प्राप्त नहीं है तो उसे हम सुन्दर नहीं कह सकते। मोती के पानी की तरह बाहरी और भीतरी सौन्दर्य में अभिन्नता होनी चाहिए। भीतर का सौन्दर्य है चेतना, चेतना का तात्पर्य है संसार में 'स्व' से पर की ओर अहं से इदं की ओर निरन्तर बढ़ते रहने की जागरूकता जिससे प्रेम और करुणा की सार्वभौम तरलता का विस्तार होता है। जिस मनुष्य का अन्तर इस प्रकार की चेतना से उद्‌बुद्ध रहता है उसकी मुखाकृति भी एक प्रकार की कान्ति से दीप्त रहती है। हम सुन्दर हृदयवालों की मुखाकृति में सौन्दर्य-भावना का आरोप कर लेते हैं। इसीलिए प्राचीन काल से लेकर आजतक कथा नायकों को दिव्य आकार-प्रकार प्रदान किया गया है। और खल नायकों की सूरत को विकृत और भोंडी करके दिखाया गया है। कुरूप हृदय वाले यदि बाहर से सुन्दर भी होते हैं तो हमारी सौन्दर्य भावना उन पर कुरूपता का आरोप कर लेती है।

'यदुच्युते पार्वति पापवृत्तये
न रूप मित्यव्यभिचारि तद्‌वच :

कहकर महाकवि कालिदास ने भी वाह्य सौन्दर्य को आन्तरिक सौन्दर्य का प्रतिबिंब माना है। यह वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही पूर्णतः सत्य न हो किन्तु भावना की दृष्टि से इसकी पूर्ण सत्यता में कोई सन्देह नहीं।

व्यक्तिगत (subjective) दृष्टि से भी देखने पर ज्ञात होता है कि सौन्दर्य चेतनशील प्राणियों के लिए सम्भव है उन्हीं के लिए वह वरदान बनता है। मानवेतर प्राणी जो चेतना के वरदान से वंचित हैं 'स्व' की निर्मिति में इतने व्यस्त रहते हैं कि बाधक होने पर 'पर' का संहार करते हैं किन्तु मानव

चेतनाशील प्राणी है और उसी चेतना के वरदान के कारण वह अपने अहं के कंचुक से निकलकर 'इदम्' की ओर निरन्तर अग्रसर होता है। उसे मनुष्य के विविध रूपों में कौन कहे, फूलों में, पत्थरों में, काँटों में, आँधी में, तूफान में, पशुओं में, पक्षियों में सर्वत्र सौन्दर्य प्रतिभासित होता है। किन्तु मनुष्यों में भी जिनकी चेतना संकुचित होती है, जिनका अहं (जो अज्ञान का परिणाम है) सर्प सा फन खोलकर फुफकारता रहता है वे संसार में अपने सिवा, अपनी वासना के उपभोग्य वस्तुओं के सिवा और कहीं सौन्दर्य देखते ही नहीं। जब उन्हें प्यास लगेगी तभी उनको पानी सुन्दर लगेगा। कोई सुन्दरी उन्हें सुन्दर इसलिए लगेगी कि वह उनकी वासना की प्यास बुझाएगी अन्यथा वह उनके कठोर हाथों से मसलकर फेंक दी जाएगी। किन्तु चेतनाशील प्राणी को पानी प्यास न लगने पर भी अच्छा लगेगा क्योंकि उससे मानव जाति का पोषण होता है। रमणी का भोला मुख उसे निरपेक्ष रूप से भी परम सुन्दर लगेगा।

प्रसाद जी आनन्दवादी परम्परा के कवि थे। कालिदास के अनुसार ही वे योग और भोग, साधना और वासना में तात्विक अन्तर नहीं मानते थे। दोनों के समन्वय में ही परम सौन्दर्य का रूप निखरता है। एकांगी होने पर सौन्दर्य की पूर्ण छवि खंडित हो जाती है। इसलिए ये दोनों कवि भीतरी सौन्दर्य का प्रतिफलन वाह्य सौन्दर्य में और वाह्य सौन्दर्य का उत्स भीतरी सौन्दर्य में देखते हैं। जब तक पार्वती अपने वाह्य रूप के गर्व मे बेसुध होकर शंकर को प्राप्त करना चाहती है तब तक शंकर उसे प्राप्त नहीं होते किन्तु जब वही पार्वती जो विलासिता की इस सीमा पर पहुँच गयी थी कि महार्ह शैया पर सोते समय करवट बदलने के समय अपने ही केशों से च्युत फूलों के संस्पर्श मात्र से कष्ट पाती थी तपस्या की पराकाष्ठा पर पहुँचकर खुले आकाश के नीचे अपनी पूजा की नंगी भूमि पर अपनी बाँहों का तकिया बना बनाकर सो जाती है तब अर्जित सौन्दर्य उसके वाह्य सौन्दर्य को दीप्त करता है और तब उसे शंकर का प्रेम प्राप्त होता है। इस प्रकार तपस्या का सौन्दर्य प्राप्त कर जब शंकर और पार्वती उन्मुक्त भोग करते हैं तब उसमें भोग का वेग होते हुए भी निर्लिप्तता है!

युग के अन्तर के साथ प्रसाद जी की भी यही दृष्टि मालूम पड़ती है। कामायनी की श्रद्धा बाहर से जितनी सुन्दर है भीतर से भी उतनी ही। किन्तु उसका भीतरी योग-सौन्दर्य वैयक्तिक नहीं सामाजिक है। वह पार्वती की तरह वन में

तपस्या नहीं करती, वरन् सृष्टि के प्राणियों के कल्याण के लिए समाज के खुले मैदान में अपने जीवन को खपाती पचाती है। सौन्दर्य के वस्तुगत पक्ष पर विचार करते हुए हम देख सकते हैं कि प्रसाद जी की रमणीय कल्पना प्रकृति के जिन-जिन उपादानों को स्पर्श कर भव्य सौन्दर्य की दीप्ति से जगमगा देती है उनके भीतर उन्होंने मंगलमयी चेतना का अस्तित्व माना है। कामायनी की सबसे सुन्दर सृष्टि श्रद्धा है। कवि ने जिन सात्विक रंगों की रेखाओं से श्रद्धा की आकृति, वेश भूषा, भाव भंगिमा अंकित की है वे श्रद्धा के भीतर की ओर सद्यः संकेत करते हैं। कवि की दृष्टि यह परखने में अत्यन्त कुशल मालूम पड़ती है कि किन रंगों और रूप-रेखाओं में किस प्रकार के मनोवैज्ञानिक भाव चित्रित किये जाने चाहिएँ। साथ-साथ उसकी विराट उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ अप्रस्तुत को सामने लाकर प्रस्तुत को और भी मुखर कर देती हैं—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन-बीच गुलाबी रंग॥
घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंश अवलंबित मुख के पास।
नील घन-शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास॥
और उस मुख पर वह मुसक्यान रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम॥

इन पंक्तियों में श्रद्धा का रूप तो प्रस्फुटित हो ही जाता है प्रकृति के प्रति कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय भी मिलता है। किन्तु श्रद्धा का यह रूप संसार को लपेटना और वासना को उकसाने वाला नहीं वरन् हृदय को शीतलता देने वाला है। सच्चा सौन्दर्य वासना की भूख-प्यास को उद्दीप्त नहीं करता वह जलते हृदयों को शीतलता का लेप देता है—

'नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस घन से छा जाती हो
वह कौंध कि जिससे अन्तर की
शीतलता ठंडक पाती हो।'

सौन्दर्य में हृदय की शीतलता को भी शीतलता देने की शक्ति होती है फिर तो वह ज्वाला को शान्त करेगी ही। सौन्दर्य वह है जिसका जय-घोष कोमल किसलय मर्मर-रव से सुनाते हैं और जिसमें मन के सुख-दुख मिलकर उत्सव

सुन्दर नहीं। वह सौन्दर्य कवि की सूक्ष्म दृष्टि और विराट कल्पना का सहारा पाकर और भी सजीव हो उठता है—

अरी आंधियो ओ बिजली की
दिवा-रात्रि तेरा नर्तन,
× × ×
लहरें व्योम चूमती उठतीं
चपलाएँ असंख्य नचतीं
गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूंदें निज संसृति रचतीं।

वही प्रकृति प्रलय के बाद आशा की अंगड़ाई लेती हुई नव वधू के समान जाग उठती है। उषा सोने के तीर बरसा रही है। चारों ओर उत्फुल्लता छा गई है। जीवन की लालसा फूट पड़ती है। वे सब एक अज्ञात सौन्दर्य की ओर संकेत कर रही हैं। सुन्दरी उषा, संध्या, रातें, चाँद-तारे आते हैं, मुसकराकर जीवन का संगीत गाते हैं। हरियाली फूट पड़ी है :—

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रहीं
शरद इन्दिरा के मन्दिरा की
मानों कोई गैल रही
× × ×
शीतल धाराएँ झरनों की
बिखरातीं जीवन-अनुभूति

जहाँ प्रकृति के शृंगार के स्थल आए हैं वहाँ प्रकृति लाज से व्रीड़ा से झुक गई है—एक सलज्ज मुसकान उसके अधरों को आलिंगन पाश में घेरे हुए है—

जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक कोने में छिप रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी सच कहना
लतिका घूंघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध की मधु धारा

प्लावित करती मन अजिर रही
था तुच्छ विश्व-वैभव सारा

आनन्द सर्ग में आनन्द के दर्शन से सारी प्रकृति नृत्य-मुखर हो रही है। सुगन्धि और गीत की लहर कण-कण से फूट-फूट कर समस्त वातावरण को सिक्त कर रही है—

वल्लरियाँ नृत्य निरत थीं
बिखरी सुगन्धि की लहरें
फिर वेणु रन्ध्र से उठकर
मूर्छना कहाँ अब ठहरे

× × ×

उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते
परिमल से चली नहाकर
काकली सुमन थे झड़ते।

सौन्दर्य के व्यक्तिगत (subjective) दृष्टिकोण पर प्रसाद के विचार क्या थे ? मैं कह चुका हूँ कि प्रसाद जी मानते हैं कि चेतनशील प्राणी अपने से अलग वस्तुओं या व्यक्तियों में सौन्दर्य का दर्शन करता है। किन्तु जिसका अहं जितना ही गर्वीला और सामाजिक चेतना जितनी ही संकुचित होगी उसकी सौन्दर्य-दृष्टि उतनी ही कुंठित होगी।

देव जाति में अहं का दम्भ पराकाष्ठा को पहुँच गया था। वासना को उष्म करने वाली सामग्रियों के अतिरिक्त उन्हें और कहीं आकर्षण दिखाई नहीं देता था। वह वासना की बाढ़ कैसी थी—

भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह

× × ×

चिर किशोर-वय नित्य विलासी
सुरभित जिससे रहा दिगन्त

× × ×

मधुकर के मरन्द उत्सव सा
मदिर भाव से आवर्तन ,
सुरा सुरभि मय वदन अरुण वे
नयन भरे सालस अनुराग
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्प-वृक्ष का पीत पराग ।

सौन्दर्य एक-रसता में नहीं अनेक-रसता में है । क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया । किन्तु देवों के सामने सौन्दर्य की नव मूर्ति नहीं वासना की चिरमूर्ति थी । अतः उनका विनाश हुआ ।

देवताओं के अवशेष मनु देव दम्भ के संस्कारों से पूर्ण हैं अतः प्रलय के पश्चात् भी उनमें सौन्दर्य वृत्ति जाग नहीं पाती । श्रद्धा का सौन्दर्य उसके हृदय को ठण्डक नहीं देता वरन् उसका यौवन और नारीत्व उसकी सेक्स-भावना को 'अपील' करता है । वह श्रद्धा के मनोहर मृग को मार ही डालता है और रह-रह नई-नई हिंसाओं को जन्म दे रहा है भोग के लिए । अपनी वासना में अन्धा होकर अपनी भावी सन्तान से ईर्ष्या करता है जबकि एक संस्कृत चेतना वाला व्यक्ति उस भावी बालक के सौन्दर्य को कल्पना की आँखों से देखकर आनन्द विभोर होता है । श्रद्धा का मातृत्व बोझ से दबा शिथिल पीला रूप जब मनु की वासना को उष्म करने लायक नहीं रह जाता तब मनु उसे छोड़ देता है । इड़ा के सम्पर्क में जाकर उसे भी अपने भोग का शिकार बनाना चाहता है । वह इड़ा के संकेतों पर जो इतने नव-निर्माण का संचालन करता है वह सौन्दर्य की प्रेरणा से नहीं वरन् भोग की सम्भावना से । जब इड़ा उसका शिकार नहीं बनती तो सबका ध्वंस करता है । उसे कहीं निरपेक्ष सौन्दर्य का दर्शन नहीं होता । इड़ा सर्ग में वह अपनी व्याख्या सही तौर पर करता है कि मैं आँधी के झोंके के समान अन्धकार में दौड़ता हुआ सबका विनाश कर रहा हूँ किन्तु तृप्ति हाथ नहीं लग रही है ।

वह अन्त में थककर जब श्रद्धा का सहारा लेता है, जब उसका दम्भ और वासना भरा अहं नतफण होकर श्रद्धा की भावना से भर जाता है तब उसे चारों ओर सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, सारी प्रकृति आनन्द से नाचती हुई उसके हृदय में समन्वय और सौन्दर्य की राशि उड़ेलने लगती है । इच्छा, क्रिया और ज्ञान उसे एक में गुँथे दिखाई देते हैं ।

: १२ :

आधुनिक हिन्दी कविता में वसन्त

भारत ऋतुओं का देश है। भिन्न-भिन्न ऋतुएँ अपने-अपने नव-नव सौन्दर्योन्मेष से प्राकृतिक और मानवीय जीवन को पुलकित करती हुई आती हैं, चली जाती हैं। इन प्राकृतिक छवियों का भारतीय जीवन के साथ इतना गहरा सम्बन्ध हो गया है कि भारतीय जन-मानस नैसर्गिक शोभा के कोमल-कठोर, अनुकूल-प्रतिकूल तत्त्वों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर हँसता है, रोता है, उल्लास अनुभव करता है, विषाद-मग्न हो जाता है। इन ऋतुओं में भी वसन्त जन-जीवन के साथ अधिक संपृक्त है अपनी शोभा-शीलता के कारण और अपनी उपयोगिता के कारण भी। वसन्त की महिमा अपार है। वसन्त का आविर्भाव ऐसे समय होता है जब समस्त प्रकृति शीत की जड़ता के आघात से निष्पन्द हो गयी होती है; जबकि रात और दिन एक विचित्र प्रकार की आलसभरी मनहूसियत से ठिठुरे रहते हैं। वसन्त के आगमन से मानों दिशाकाश के अवरुद्ध मार्ग खुल जाते हैं, सारी प्रकृति एक साथ जड़ता के जर्जर आवरण झाड़कर भीतर से खिलखिला पड़ती है। चारों ओर नवता ही नवता लहराने लगती है। दूसरी ओर जाड़े के सूने दिनों में बेघर, विवस्त्र लोग ठंडक के भार से निस्तब्ध हो गये रहते हैं। वसन्त अपनी उष्म किरणों की अँगुलियों से उन्हें छूकर जगा देता है। गरीबों के घर उपवास पर उपवास होते हैं। जाड़े के सूने दिन सूनी रातें गरीबी का क़फ़न ओढ़कर सोयी जान पड़ती हैं। लेकिन वसन्त आकर उनकी फसलें पका देता है। गीतों के हिल्लोल के साथ फसलें काटी जाने लगती हैं। अन्न की महक से मृत्यु का सन्नाटा टूट जाता है, जीवन नयी यात्राएँ आरम्भ करता है। गरीब अमीर सबको एक बार फिर नव-जीवन का वरदान प्राप्त हो जाता है। इन्हीं कारणों से वसन्त स्वभावतः नव-जीवन का प्रतीक बन गया है। इसीलिए उत्तर भारत में वसन्त के प्रथम दिन (चैत्र बदी प्रतिपदा) से वर्षारम्भ मानते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से चैत्र और वैशाख को वसन्त ऋतु माना गया है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से लोग उसके उल्लास का अनुभव एक-डेढ़ मास पहले से ही

करने लग जाते हैं। किसी प्रियतम व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा में गुजरने वाले दिन भी कितने रसमय हो उठते हैं, सहृदयों को इसका अनुभव होगा। अतः लोग वसन्तपंचमी से ही वसन्त का आगमन मान बैठते हैं और उसी दिन से वसन्त राग गाने लगते हैं।

जब सामान्य जनता वसन्त के आगमन से मतवाली हो उठती है तब कवियों का कहना ही क्या ? वे तो कोयल के कूकने के पहले ही कूक उठते हैं, फूलों के खिलने के पहले ही कुछ उन्मन-सा अनुभव करने लगते हैं। संस्कृत और हिन्दी कविता वसन्त के शोभा-चित्रों से भरी पड़ी है। यह अवश्य है कि इन कवियों ने अपने-अपने संस्कारों, मनस्थितियों और दृष्टियों के अनुसार इसे भिन्न-भिन्न रूपों और मात्राओं में देखा है। प्रस्तुत निबन्ध का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी कविता से है। अतः इसी सीमा में हम वसन्त के चित्रों को देखने का प्रयत्न करें।

कई कारणों से आधुनिक हिन्दी कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु काल से माना जाता है। भारतेन्दु काल ने कविता की भाषा ब्रज-भाषा ही रखी किन्तु उसने आधुनिक विषयों और सामाजिक राष्ट्रीय स्पन्दनों को कविता के लिए स्वीकार कर निश्चय ही कविता में आधुनिकता का सूत्रपात किया। किन्तु आचार्य शुक्ल के शब्दों में "वे (भारतेन्दु) केवल नर प्रकृति के कवि थे, वाह्य प्रकृति की अनन्त-रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं, वे केवल परम्परा पालन के रूप में हैं।" अतः भारतेन्दु या उनके अन्य सहयोगियों में वसन्त का भी उल्लास-मय चित्रण नहीं मिलता। "हाँ देश दशा पर दो-एक होली या वसन्त आदि गाने की चीजें फुटकल भी मिलती हैं।" इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने दो एक जगह और होली का चित्रण किया है किन्तु वह मानो भक्तिकालीन तथा रीति-कालीन परम्परा के ही आग्रह से किया है, हृदय के उल्लास से नहीं। इन्हें देखिए—

कान्ह तुम बहुत लगावत अपुने को होरी खिलार,
निकसि अब आव मैदान दुरत क्यों लै चौगान निवार।

× × ×

सखी री कासों ठानत सरवर तू बे-काम,
वह तो धूत फफंदी ब्रज तू है कुल की बाम।

× × ×

तुही कहा ब्रज में अनोखी भई,
कान नहिं काहू की करत दई।
जानत नहिं कछु चाल यहाँ की आई अबहि नई,
मोहन मिलतहि जान परैगी भूलैगी सबई।
छैल खिलार रसिक होरी को लीने सखा कई,
गाय कबीर अबीर उड़ावत आवत ह्वै-है सई।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रकृति के प्रति अनुराग आरम्भ होता है मूलतः द्विवेदी काल से ही। इस काल के कवि अपनी अन्य स्वदेशीय विभूतियों पर मुग्ध होने के साथ ही साथ प्राकृतिक रमणीयता पर भी आकृष्ट होते दीखते हैं। किन्तु द्विवेदी काल अपनी इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के नाते प्रकृति की नाना आन्तरिक छवियों को न देखकर उसकी बाह्य रूपावली का ही वर्णन करता है। वसन्त पर उस काल में अनेक कविताएँ लिखी गईं किन्तु वे कविताएँ कवियों के मानसिक उल्लास, सूक्ष्म दृष्टि और भावात्मक उन्मेष के अभाव में शुष्क वर्णनात्मक तथा प्रभावहीन हो गई है। उनमे सूक्ष्म इन्द्रिय बोध का अभाव है। विशेषतया प्रकृति के वे ही उपादान देखे गये है जो परम्परा से काव्य में गृहीत थे। प्रकृति को आलम्बन और उद्दीपन इन दोनों रूपों में देखने की परम्परा रही है। द्विवेदी काल के कवियों ने इन्हीं दोनों दृष्टियों से प्रकृति को देखा है। श्री पूर्ण जी की 'वसन्त वियोग' कविता में वसन्त का एक वर्णनात्मक चित्र देखिए :—

असित मधुप गण सहित मनोहर,
स्वर्ण सरोज समेत सरोवर।
देख तथा छविधर नभ दिनकर,
कविवर को विचार है भाता।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस वर्णनात्मक परम्परा में प्रकृति के अनेक चित्र उतारे हैं। गुप्त जी द्विवेदी काल के संस्कारों के साथ-साथ छायावादी प्रभाव भी ग्रहण कर सके हैं क्योंकि उन्होंने अपनी जिन्दगी में कई काव्य-युगों को पार किया है। अतः इनके वर्णनात्मक प्रकृति चित्रों में छायावादी रमणीयता और आन्तरिकता कहीं-कहीं मिल जाती है फिर भी उनके मूल संस्कार तो द्विवेदी-कालीन ही हैं। अतः वे इतिवृत्तात्मकता का दामन गीतों में भी नहीं छोड़ पाते

हैं। साकेत के नवम् सर्ग में विरहिणी उर्मिला प्राचीन परम्परा के अनुसार बारह मासों और षट-ऋतुओं के आगमन से उद्दीप्त होने वाली अपनी वेदना व्यक्त करने बैठी है। होली को लेकर एक अच्छा गीत वहाँ लिखा गया है जिसमें कवि की उपर्युक्त विशेषताएँ दर्शनीय हैं :—

काली-काली कोइल बोली,
होली होली होली।
हँस कर लाल-लाल होठों पर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली-पीली चोली।
होली होली होली।
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोलीं,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।
होली होली होली।

होली के बाद वसन्त एक दम फूट पड़ता है। कामदेव, मलयानिल, अशोक, कमल, भ्रमर, मधुमक्खी आदि वसन्त के सहचर हैं, ये बहुत दिनों से वसन्त के साथ लगे हुए हैं। गुप्त जी ने उर्मिला की मानसिक व्यथा के साथ इन्हें संपृक्त कर इन सहचरों का अच्छा वर्णन किया है।

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप।
करूँ बड़ाई फूल की या फल की चिरकाल,
फूला फला यथार्थ में तूही यहाँ रसाल।

छायावादी कविता ने जीवन और प्रकृति दोनों को देखने का दृष्टिकोण बदला। स्वानुभूति की निबिड़ता, कल्पना की अतिशयता और व्यक्तिगत दृष्टि की प्रधानता के कारण छायावादी कविता गीतात्मक हो गयी। प्रकृति अपने-आप में कैसी है यही महत्त्व की बात नहीं है वह हमारी आँखों से कैसी दिखाई पड़ती है इसका विशेष महत्त्व है। छायावादियों ने परिपाटी विहित उपादानों का वर्णन न कर अपनी आँखों से प्रकृति को देखा, उसके भीतर घुसकर देखा। इसलिए उन्हें प्रकृति के नए-नए सौन्दर्य हाथ लगे। उन्होंने इस मर्म का भी अनुभव किया कि जो चेतना उनके भीतर है वही प्रकृति के भीतर भी। अतः उन्होंने प्रकृति की आन्तरिक छवि, आन्तरिक चेतना और गूढ़तम रहस्यों को

अपने काव्यात्मक ढंग से उद्घाटित किया। जहाँ कहीं कवियों ने प्रकृति का आलम्बन-गत चित्र उभारा है वहाँ वे स्थूल वस्तु वर्णन में न उलझकर सूक्ष्म से सूक्ष्म इन्द्रिय बोधों—शब्द स्पर्श, रूप,रस, गंध—की व्यंजना में लिप्त दिखाई पड़ते हैं। जहाँ उन्होंने प्रकृति को मानव-चेतना के साथ सम्पृक्त करके देखा है वहाँ वे प्रकृति के सौन्दर्य का मानव-मन पर पड़े प्रभावों तथा जीवन के गूढ़ रहस्यों और सत्यों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं। छायावादी कवियों ने वसन्त का बड़ा ही उल्लासमय चित्र खींचा है। ये वसन्त चित्र, नवीन वस्तु-विन्यास, नवीन उपमान-नियोजन तथा सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कारण एक-दम ताजे हैं। पंत जी की निम्नलिखित कविता में वसन्त की भीतरी छवियों की शिखाओं से अंकित सौन्दर्य-चित्र छायावादी कवियां की प्रकृति सम्बन्धिनी दृष्टि का परिचायक है :—

चंचल पग दीप - शिखा के धर,
गृह मग वन में आया वसन्त,
सुलगा फाल्गुन का सूनापन,
सौन्दर्य - शिखाओं में अनन्त !

सौरभ की शीतल ज्वाला से,
फैला उर - उर में मधुर दाह,
आया वसन्त, भर पृथ्वी पर,
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह।

पल्लव - पल्लव में नवल रुधिर,
पत्रों में मांसल रंग खिला,
आया नीली - पीली लौ से,
पुष्पों के चित्रित दीप जला।

अधरों की लाली से चुपके,
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया पंखुड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज सजा।

छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया। प्रकृति और मानव के बीच का यह साम्य-स्थापन रूढ़ वस्तु-वर्णनाओं या रूढ़ अलंकारों पर आधा-

रित नहीं है। कवियों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार इन दोनों के उन्हीं गुण-धर्मों को लिया जो जीवन के मर्म को छूने वाले हैं। निराला जी के निम्न-लिखित गीत में प्रियतम के रूप में आने वाले वसन्त को देखकर प्रिया के समान प्रकृति के विभिन्न उपकरण उल्लास और प्यार से पुलकित हो गये हैं :

सखि वसंत आया,
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय वसना नव - वय - लतिका,
मिली मधुर प्रिय - उर तरु - पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी पिक-स्वर नभ सरसाया।
लता - मुकुल - हार - गंध - भार - भर,
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन-यौवन की माया।
आवृत सरसी - उर - सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण - शस्य - अंचल पृथ्वी का लहराया।"

छायावादी कवियों ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और मानसिक स्थितियों को प्रकृति के तदनुरूप उपादानों के माध्यम से व्यंजित किया है। वसन्त अपने उल्लास, सौन्दर्य और मादकता के कारण यौवन का प्रतीक बन गया है। 'कामायनी' के काम सर्ग में वसंत के चित्रों के माध्यम से व्यक्त यौवन का रूप दर्शनीय है।

मधुमय वसंत जीवन-वन के बह अंतरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से, रजनी के पिछले पहरों में,
क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं,
जब लीला से तुम सीख रहे कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी सच कहना,
जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी फूलों के अंचल में
अपना कलकंठ मिलाते थे झरनों के कोमल कल कल में।"

सुश्री महादेवी वर्मा की 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' कविता में मानवीकरण के रूप में चित्रित वसन्त रजनी का कोमल सौन्दर्य दर्शनीय है।

छायावादी युग में प्रकृति के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वर भी ऊँचा किया गया। वसन्त का स्वभाव बड़ा रोमान्टिक माना गया है। किन्तु गुलाम देश को इस रोमांटिक वसन्त की आवश्यकता नहीं। वह वसन्त के वीर रूप को चाहता है, रंग से नहीं रक्त से होली खेलना चाहता है। सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'वीरों का कैसा हो वसन्त' इसी प्रवृत्ति की परिचायिका है।

छायावाद के पश्चात् का युग प्रगतिवादी युग कहा जाता है। जैसे छायावाद जीवन और जगत को देखने के लिये एक नया दृष्टिकोण लेकर आया वैसे ही प्रगतिवाद भी। प्रगतिवादी युग सामाजिक यथार्थ का पक्षपाती होकर आया। छायावादी कविता के स्वानुभूति और कल्पना-प्रसूत सौन्दर्य के स्थान पर इसने सामान्य जन जीवन के यथार्थ चित्रण से पैदा होने वाली शक्ति और सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया। शोषित मानव-समाज के दुख-दैन्य, संघर्ष, आशा-निराशा आदि को अंकित कर उनकी भावी विजय में आस्था रखना प्रगतिवादी कविता का स्वभाव था। उसकी दृष्टि निभृत वनों, पर्वतों और शहरों की प्राकृतिक छवियों से हटकर गावों के संघर्षमय जीवन के साथ-साथ फलने-फूलने वाली प्रकृति की ओर गयी। प्रगतिवादी मोड़ लेते समय पन्त जी ने इसी सत्य की ओर संकेत किया था—

देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से,
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन मन से।

इसीलिये पंत जी ने छाया-प्रकृति को छोड़कर गाँवों के आसपास फैली हुई प्रकृति के यथार्थ रूप को देखा। छायावाद का कल्पना-विलास अब धरती की पगडंडियों पर पैदल-पैदल चलने लगा। वसन्त ग्रामीण जीवन का बड़ा मस्त समय होता है। केदारनाथ अग्रवाल ने 'वसंती हवा' की मस्ती की कितनी सहज व्यंजना की है। लगता है कोई गाँव की अल्हड़ कुमारी खेतों में यहाँ से वहाँ तक पौढ़ रही है।

चढ़ी पेड़ महुवा,
थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में कू,
उतर कर भगी मैं,
हरे खेत पहुँची,
वहाँ गेहुओं में,
लहर खूब भारी,
पहर दो पहर क्या,
अनेकों पहर तक,
इसी में रही मैं !
खड़ी देख अलसी,
लिए शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी !
हिलाया झुलाया,
गिरी पर न कलसी,
इसी हार को पा,
हिलाई न सरसों,
झुलाई न सरसों।

प्रगतिवाद ने प्रकृति को सदैव जन जीवन और नवीन आस्था के परिवेश में देखा। प्रकृति कहीं पर हमारे संघर्षों की संगिनी होकर आती है, कहीं जन जीवन के विराट रूप को व्यक्त करने के लिए पृष्ठभूमि होकर आती है, कहीं वह अपने नये उल्लास और सौन्दर्य से श्रम और संघर्ष से थकी हुई जनता के लिए नयी आस्था और उमंग का संदेश लेकर आती है। वसन्त और नया वर्ष दोनों पर्याय से हो गये हैं। अतएव जीवन की नवता के साथ वसंत का गहरा सम्बन्ध है। त्रिलोचन का एक 'सानेट' इस संदर्भ में उल्लेखनीय है—

नया वर्ष आया है, माथे पर होली की
भस्म लगाये, अंगों में बहार रंगों की
छाई है, अमराई में नूतन ढंगों की
सिन्दूरी केसरिया मंजरियाँ टोली की
छटा बढ़ाती हैं बहार पिक की बोली की
सभी कान वालों के पग में नव भंगों की
बेड़ी अलख डाल जाती है इन संगों की
स्मृति उतनी सुखकर है जितनी हमजोली की
फूले हैं पलाश, सेमल, गुलाब, वनबेला
जामुन, नीम, लिसोढ़े अभिनव दल आये हैं
पीपल-पाकड़ में, मतवाली हैं मैनाएँ
फूल-फूल का रस लेती हैं, यह मधु मेला
भला फिर कहाँ ? मानव ने जो दुख पाये हैं
वे जायें, जीवन में नयी उमंगे आयें।

प्रगतिवादी वसन्त-चित्रों में जीवन की शक्ति और सौन्दर्य ही अधिक व्यंजित हुए हैं। व्यक्तिवादी अतृप्त वासना और कुंठाग्रस्त दर्दों को व्यक्त करने वाले प्रतीकों और बिम्बों के रूप में वसंत नहीं आता, वह व्यापक सामाजिक जीवन के स्पंदनों और सौन्दर्यों को रूपायित करने वाले चित्रों के रूप में आता है। प्रगतिशील कवियों ने अनेक ऐसे गीत लिखे हैं जिनमें लोक-छंदों, लोक-ग्राह्य प्रतीकों और लोक भाषा की शक्ति और सौन्दर्य निहित है। ऐसे गीतों में चित्रित वसन्त की छवि इन गीतों में देखिए:—

घाट के रस्ते उस बँसवट में
इक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा सा नाम है
मुझे पुकारे, ताना मारे
भर आए आँखड़ियाँ
उन्मन ये फागुन की शाम है। भारती

× × ×

गीतों से भरे दिन फागुन के ये गाये जाने को जी करता
ये बाँधे नहीं बँधते, बाँहें रह जातीं खुली की खुली
ये तोले नहीं तुलते, इस पर ये आँखें तुली की तुली
ये कोयल के बोल उड़ा करते, इन्हें थामे हिया रहता।

—केदारनाथ सिंह

× × ×

फिर फागुन आ गया
डह डह डहका पलाश
परदेशी अँखियन में बन अंगार लाल लाल छा गया
हर हर हर, झर झर झर फरर फरर रंगभरी फटी चूनरी
फड़ फड़ गेहूँ में स्वर लोट रहे दूर पिया बहुत दूर री
लो फिर वह भी राही बावरी
आँखों को मुड़ के भरमा गया।

—रामदरश मिश्र

प्रयोगवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर कम उल्लसित होते हैं। बुद्धिवाद का आग्रह उन्हें इधर झुकने नहीं देता। प्रकृति के सौन्दर्य पर रीझना भावुकता है और प्रयोगवादी भावुकता से भरसक दूर रहना चाहता है। प्रकृति को वह कविता में स्वीकारता भी है तो अपनी उदास मानसिक परिस्थिति के परिवेश के रूप में या अपनी दमित वासनाओं और पीड़ाओं के प्रतीक के रूप में। प्रयोगवादियों द्वारा अंकित वसंत के जितने चित्र मिलते हैं प्रायः सबमें उनकी टूटन तड़पन की व्यथा भीनी हुई है। वे चित्र तो इन्हीं व्यथाओं को व्यक्त करने के लिए उपलक्षण मात्र हैं। ये कविताएँ जन जीवन के मुक्त उल्लास से कट कर भी कवि की गहरी व्यथा की अनुभूति से सिक्त होने के कारण तथा चित्रात्मक और प्रतीकात्मक होने के कारण मर्म को भी छूती अवश्य हैं, एक दर्द की लकीर सी खींच जाती हैं। धर्मवीर भारती की कविता 'फागुन के दिन की एक अनुभूति' की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

सहसा यह मुझको अहसास हुआ
यह सब है और किसी का

यह पगडंडी, यह गाँव-खेत, सुग्गे के हरे पंख
गति जीवन
सबका सब और किसी का—
मेरा है केवल निर्वासन, निर्वासन,·····निर्वासन !

शमशेर बहादुर सिंह की 'वसंतवती' इसी प्रकार के एकाकीपन की अनुभूति से युक्त कविता है। कुँवर नारायण की 'वसन्त की लहर' को भी इस दृष्टि से देखा जा सकता है। अज्ञेय ने यद्यपि 'तुम कहाँ हो नारि', 'भूमि के कंपित उरोजों पर' आदि कविताओं में प्रकृति के चित्रों के माध्यम से नंगी मानव वासना को ही चित्रित किया है परन्तु वसंत सम्बन्धी अपनी कुछ कविताओं में तथा 'ओ पिया पानी बरसा' जैसी वसंतेतर प्रकृति कविताओं में उन्होंने प्राकृतिक सुषमा का सहज रूप चित्रित करते हुए जीवन के स्वच्छ और नूतन प्रवाह को देखा है। इनमें व्यक्ति की घुटन नहीं, सामाजिक जीवन का उन्मुक्त वेग है।

शिशिर ने पहन लिया वसंत का दुकूल
गन्ध-वह उड़ रहा पराग-धूल झूल,
काँटों का किरीट धारे बने देवदूत
पीत वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।
अरे ऋतुराज आ गया।
सिद्धि नहीं, दौड़ते हैं किन्तु सिद्धिदूत
वायु चल रही है आज स्निग्ध मंत्रपूत
स्तब्ध हैं प्रतीक्षमान दिग्वधूटियाँ—
जीवन प्रवाह वह रहा है अनाहूत !
क्यों कि ऋतुराज आ गया।

नयी कविता में जो कवि प्रगतिवादी परम्परा से आये हैं वे आज भी कभी गीतों, कभी मुक्त छंदों के माध्यम से प्रकृति के विविध चित्रों को नवीन अर्थमत्ता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। जो कवि शुद्ध प्रयोगवादी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं वे बौद्धिकता के आग्रह से गीतों और प्रकृति चित्रों को तिरस्कृत कर रहे हैं। अपनाते भी हैं तो अपनी विकृतियों के साँचे में ढाल कर। उन्हें प्रकृति

के उदात्त भव्य स्वरूपों में भी अपनी गंदी रुचि के कारण या प्रतिक्रिया के आवेश में गंदगी ही नज़र आती है। दूसरी ओर उन गीतकारों का दल है जो पिटी-पिटाई पद्धति पर शुद्ध रोमानी लहजे में ढेर के ढेर सस्ते मौसमी गीत गाये जा रहा है। दैनिकों में ये मौसमी गीत देखे जा सकते हैं।

———

: १३ :

हिन्दी-ऐतिहासिक उपन्यासकार— वृन्दावन लाल वर्मा

साहित्य में ऐतिहासिक कृतियों का निर्माण सामाजिक कृतियों की अपेक्षा कठिन कार्य है। ऐसी कृतियों में लेखक की जिम्मेवारी दोहरी हो जाती है, उसे इतिहास के प्रति ईमानदार भी रहना पड़ता है और कला का निर्वाह भी करना पड़ता है। ऐसी कृतियों के निर्माण के लिए लेखक में अध्ययन का कोश और कल्पना की विराटता अपेक्षित होती है। इसीलिए ऐतिहासिक नाटक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ललक बहुत कम लेखकों में लक्षित होती है। हिन्दी में नाटकों के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद और उपन्यासों के क्षेत्र में वृन्दावन लाल वर्मा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। यों वर्मा जी के पहले, साथ-साथ और बाद में अनेक लेखकों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयास किया है किन्तु कुछ (किशोरी लाल गोस्वामी आदि) की कृतियों में न तो ऐतिहासिक तथ्यों का सही रूप में ग्रहण और निर्वाह है और न उपन्यास-कला का ही दर्शन होता है। कुछ ने केवल इतिहास का हल्का-सा वातावरण अपनाया है। जयशंकर प्रसाद नाटकों के साथ-ही-साथ ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की ओर अभिमुख हुए थे किन्तु अधूरी 'इरावती' देकर सदा के लिए संसार से विदा हो गए। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाण भट्ट की आत्मकथा' के रूप में बहुत उच्चकोटि का ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत किया है किन्तु उपन्यास लिखना उनका क्षेत्र नहीं। अलबत्ता श्री राहुल सांकृत्यायन की बहुमुखी प्रतिभा ने 'मधुर स्वप्न', 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों का निर्माण कर इस अभाव की पूर्ति में योग दिया है किन्तु एक तो राहुल जी अनेक क्षेत्रों में काम करने वाले हैं दूसरे उनके सैद्धांतिक दृष्टिकोण उपन्यासों में बुरी तरह उभर कर आ जाते हैं, इसलिए उनके उपन्यास भी उस मार्मिकता को नहीं छू सके जो अपेक्षित है। इधर 'मुरदों का टीला' तथा 'वैशाली की नगर वधू' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास भी देखने में आए हैं लेकिन एक-एक उपन्यास किसी लेखक का

व्यक्तित्व बनाने में प्रायः समर्थ नहीं होते। ऐतिहासिक दृष्टि से वृन्दावन लाल वर्मा ही ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं जिन्होंने सच्चे अर्थों में पहले-पहल उपन्यास के लिए ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया तथा उपन्यास-कला का समुचित निर्वाह करते हुए मानवीय संवेदनाओं का भव्य चित्र अंकित किया।

वर्मा जी ने अन्य लोगों की तरह शौकिया तौर पर एकाध उपन्यास लिख कर छुट्टी नहीं पा ली वरन् ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ही इनका प्रधान साधना-क्षेत्र है। अब तक इन्होंने 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'मुसाहब जू', 'लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी', 'माधव जी सिंधिया' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। वर्मा जी के उपन्यासों की ऐतिहासिक सामग्री प्रायः मुस्लिम काल की है जिसे उन्होंने स्वयं के अध्ययन, जनश्रुतियों और परम्पराओं द्वारा ग्रहण किया है।

इतिहास को ग्रहण करने में साहित्यकार को यह ध्यान रखना पड़ता है कि साहित्य कहीं कोरा इतिहास न होकर रह जाय। इतिहास में अपने आप में कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं होता। वर्त्तमान की समस्याओं, आकांक्षाओं को अनुभूति का प्रकाश देने तथा मानवीय चिरन्तन प्रवृत्तियों को चित्रित करने में ही उसकी सार्थकता है। इसलिए प्रत्येक कुशल ऐतिहासिक साहित्यकार इतिहास की पृष्ठभूमि पर अपने युग की साँसों और शाश्वत भावनाओं को इस कौशल से स्वर देता है कि इतिहास के साथ अन्याय भी न हो और उसकी कृति इतिहास की फोटोग्राफी भी न हो जाय। वर्मा जी ने ऐतिहासिक सामग्रियों का उपयोग अपेक्षाकृत मानवीय कोमल प्रवृत्तियों के सफल अंकन के लिए ही किया है। इन्होंने इतिहास की उन्हीं सामग्रियों को ग्रहण किया जिनके चयन से उपन्यास की मनोरंजकता तो बनी ही रही, साथ-साथ जीवन के विविध पक्षों का पारस्परिक संघर्ष और उनमें उदात्त वृत्तियों की विजय भी अंकित होती चली गई।

वर्मा जी ने अपने कथानक बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों में निवास करने वाली जनता में से चुने हैं। बुन्देलखण्डी जीवन की पृष्ठभूमि पर वर्मा जी के उपन्यासों के कथानक बड़े ही प्राकृतिक और अल्हड़ वेग से उन्मुक्त सौंदर्य लिए हुए चलते हैं। बुन्देलखण्ड की ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर उठे हुए हरे-भरे पेड़ों को देखकर यह प्रश्न होता है कि इन्हें रस कहाँ से मिलता है? इस सौन्दर्य के स्रोत का पता अन्यत्र न पाकर यह विश्वास करना पड़ता है कि ये पेड़ वहाँ की हवा से हरी-

तिमा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार वर्मा जी के कथानक और चरित्र अपने आस-पास के सहज वातावरण से स्वाभाविक गति से इस प्रकार फूट पड़ते हैं कि उनके प्राकृतिक सौन्दर्य में पाठकों को अपूर्व रस मिलने लगता है। यह कहा जा सकता है कि वर्मा जी के कथानकों के सजाव-शृंगार में बुन्देलखण्डी जीवन की प्रतिच्छाया है। जिस प्रकार बुन्देलखण्ड के लोगों के पहनावे—घुटने तक की धोती, लम्बा ढीला कुरता, सिर पर बड़ा सा पग्गड़ एवं हाथ में लम्बी सी लाठी—में असामंजस्य एवं ढीलापन दिखाई पड़ता है वैसा ही असामंजस्य वर्मा जी के कथानकों में दिखाई पड़ता है। वे कुशल शैलीकार की भांति उन्हें छाँटते-सँवारते नहीं है। लेकिन इन तमाम असामंजस्यों में भी इनके कथानकों के अपूर्व आकर्षण का रहस्य है उनमें सहज वन्य और स्वच्छन्द जीवन शक्ति का प्रवाह प्रवाहित होना।

वर्मा जी रोमांटिक परम्परा के लेखक हैं। अतः इनके वर्णनों में जादू है। कहानी कहने की आकर्षक शक्ति होने पर भी वर्मा जी कहीं-कहीं विस्तृत विवरणों में उलझ जाते है। कहीं-कहीं—जैसे मृगनयनी में—इतिहास के अनेक तथ्यों की भीड़ हो गई है जिससे उपन्यास का गठन आद्योपान्त बड़ी मुश्किल से बना रह पाता है। तो भी मुख्य कथा और प्रासगिक कथा का सम्बन्ध कहीं विच्छिन्न नहीं होने पाता।

वर्मा जी के चरित्र मनुष्य हैं अर्थात् जो साधारण कोटि के और खल प्रकृति के पात्र हैं वे मनुष्य हैं ही, इनके देवोपम उदात्त-पात्र भी अपने अन्तर्संघर्षों के कारण मिट्टी की ही उपज मालूम पड़ते हैं। वर्मा जी के समस्त पात्रों को हम कुछ वर्गों में बाँट सकते हैं किन्तु इन्होंने प्रत्येक वर्ग में दिखाई पड़ने वाले अनेक प्रकार के चेहरों को मार्मिकता से पहचाना है, दूसरे जिस प्रकार के पात्र को लिया है उसके बाहर और भीतर की अनेक सूक्ष्म रेखाओं को उभार कर अंकित किया है। इनके उदात्त पुरुषों में राजे भी आते हैं और सामान्य लोग भी आते हैं। ऐसे पात्रों की कुछ सामान्य विशेषताएँ लक्षित होती हैं। वे सभी पात्र प्रेम की गरिमा को पहचानने वाले होते हैं। उन सबके प्रेम की सिद्धि में सामाजिक परिस्थितियाँ बाधक स्वरूप खड़ी हो जाया करती हैं। ये पात्र अपने अद्भुत शौर्य, पराक्रम और मानसिक उल्लास के कारण युद्ध में या अन्यत्र भयंकर से भयंकर शक्तियों का दमन करने को तैयार रहते हैं। ये युद्ध के लिए

युद्ध नहीं करते वरन् जीवन के उच्चादर्शों—कला, संस्कृति, धर्म, मानव की कोमल वृत्तियों, प्रेम, परोपकार एवं सतीत्व की रक्षा तथा विकास के लिए करते हैं। वे अपने अधिकारों की सुरक्षा आवश्यक समझते हैं और उन अधिकारों पर आँख उठाने वाले आततताइयों का दमन करते हैं।

इसी प्रकार इनके उदात्त नारी पात्रों में रानियाँ तथा सामान्य नारियाँ भी आती हैं और उनकी भी कुछ वर्गगत विशेषताएँ साफ तौर पर लक्षित होती हैं। उदाहरणस्वरूप ये प्यार की देवी होती हैं, उनमें अपने प्यार का दमन करने की अद्‌भुत क्षमता होती है, सभी शस्त्र संचालन में कुशल होती हैं, उनमें आत्मबल इतना होता है कि वे मृत्यु से भय नहीं खातीं। ये वज्रादपि कठोर तथा 'मृदूनि कुसुमादपि' होती हैं। त्याग की भावना इनमें ओत-प्रोत होती है। किन्तु इन वर्गीय विशेषताओं के बीच भी पाठक बड़ी सरलता से दिवाकर कुँजर, दलीप सिंह, मान सिंह, अटल, अग्निदत्त, रघुनाथ सिंह, मृगनयनी, लाखी, कचनार, तारा, कुमुद आदि पात्रों को उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं की रेखाओं के कारण पहचान सकता है। दुष्ट राजों, खल रानियों, छलछन्दी मन्त्रियों, रूढ़िवादी पंडितों, लुटेरे बादशाहों, बुरे-भले सेवकों आदि के चित्र वर्मा जी ने बड़ी बारीकी से अंकित किये हैं। सभी पात्र मिट्टी से फूटते हुए जान पड़ते हैं। मृगनयनी जैसी उदात्त नारी भी सौतिया डाह का जवाब देने से नहीं चूकती। कुमुद जैसी देवी सदैव अपनी कमजोरियों का विश्लेषण करती है। बोधन पंडित तो बड़ा ही स्वाभाविक वर्ग प्रतीक है! इतना होने पर भी गढ़कुण्डार के नागदत्त और अग्निदत्त जैसे सुन्दर चरित्र लेखक के पूर्व नियोजित उद्देश्य में फंस जाने के कारण स्वाभाविक विकास न पाकर राक्षस बन जाते हैं। वर्मा जी के पात्रों में यथार्थ और रोमान्स का सुन्दर मेल है। कथावस्तु के समान ही इनके चरित्रों में भी कुछ अनावश्यक भरती हो जाती है। लक्ष्मी बाई (झाँसी की रानी) में तो इतने अधिक पात्र आगए हैं कि उपन्यास पढ़ चुकने पर सबके नाम भी याद नहीं रह पाते। नाम भूलने का मुख्य कारण होता है उस उपन्यास में उस पात्र का कोई मुख्य कार्य न होना।

वर्मा जी के कथानकों और चरित्रों के स्वाभाविक वेग के समान इनकी शैली भी सहज और व्यावहारिक है। भाषा बुन्देलखण्ड की नदियों के वन्य प्रवाह की तरह ही स्वच्छन्द गति से चलती है। प्राकृतिक वर्णनों, काव्यात्मक चित्रणों,

पात्रों के कथोपकथनों में सर्वत्र भाषा प्रसंगानुकूल कोमल अथवा परुषरूप धारण करती हुई छोटे-बड़े वाक्यों की माला पहने, भोली-भाली पहाड़ी बालिका की तरह गतिशील रहती है। निश्चय ही वर्मा जी की शैली में व्यक्तित्व है।

ऐतिहासिक उपन्यासों या नाटकों में एक मुख्य बात देखने की यह होती है कि लेखक ने उनमें कल्पना और इतिहास का कहाँ तक सामंजस्य उपस्थित किया है। यहाँ पर लेखक के उद्देश्य की बात का प्रश्न खड़ा हो जाता है। लेखक पाठकों को केवल इतिहास की मनोरंजक घटनाओं से अवगत कराना चाहता है या इतिहास के घटना चक्रों को लेकर उनमें अपने युग की प्राण-प्रतिष्ठा करना चाहता है। जो लेखक निरुद्देश्य भाव से इतिहास के मनोरम घटना-चित्र देना चाहते हैं उनके लिए कल्पना के ग्रहण का सवाल विशेष रूप से उत्पन्न नहीं होता। वे मनोरंजन उत्पन्न करने वाली किन्हीं भी घटनाओं को ले सकते हैं और उनके बीच के अवकाश को वे मानवीय व्यापारों से भर सकते हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के लेखकों का उत्तरदायित्व बड़ा गम्भीर होता है। वे इतिहास की उन्हीं घटनाओं को लेंगे जिनसे उनके उद्देश्य की सिद्धि में सहायता मिले। वे या तो स्वतः इतिहास से ऐसी घटनाओं और पात्रों को चुनेंगे जो अपनी ऐतिहासिक सच्चाई के साथ-साथ किसी भी युग को उच्च से उच्च मानवीय गुणों का सन्देश देने में सक्षम हों जैसे राम, कृष्ण, झाँसी की रानी, शिवाजी, महाराणा प्रताप, गाँधी आदि। अथवा वे क्रूर, कुरूप और पतनशील ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के समानान्तर कुछ ऐसे कल्पित कथानकों और पात्रों की सृष्टि करेंगे जो कठोर कुरूपताओं से लड़कर जीवन के उदात्त वैभव की प्रतिष्ठा कर सकें। यों तो कल्पना का उपयोग सर्वत्र अपेक्षित है किन्तु ऐसे अवसरों पर उसकी आवश्यकता बढ़ जाती है। यहाँ लेखक इतिहास के बिखरे खण्डहरों में से अपने काम की चीज़ चुन लेता है और उन्हें कल्पना में पिरोकर मनोनुकूल नई सृष्टि करता है। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में सर्वत्र इतिहास की पृष्ठ-भूमि पर राष्ट्रीयता और नव-जागरण का स्वर मुखर किया है। राहुल जी ने अपने उपन्यासों में बहुत खुले रूप में साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा और सामाजिक रूढ़ियों के दमन की आवाज उठाई है। वृन्दावन लाल वर्मा में अपने युग की कोई ज्वलन्त समस्या नहीं खड़ी होती। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वर्मा जी रोमांटिक परम्परा के लेखक हैं अतः उन्होंने अपने उपन्यासों में

समाज के नये प्रश्नों को न उठाकर उसके चिरन्तन उन्मुक्त भावों का ही चित्र देना पसन्द किया है। वे प्रेम के उदात्त और कोमल स्वरूप की व्यंजना में ही रत दिखाई पड़ते हैं। लेकिन इस प्रेम का स्वरूप निष्क्रिय नहीं है, वह त्यागशील है, संयम जानता है, शौर्यमय है, जति-पाँति के बन्धनों को अस्वीकार करने वाला है, वह अनेक विषमताओं, ईर्ष्या-द्वेषों और कुचक्रों के काँटा से भरी डाल के मस्तक पर मुसकराने वाला गुलाब का फूल है। 'झाँसी की रानी' राष्ट्रीय संग्राम इतिहास की घटना है, लेखक की कल्पना नहीं। 'गढ़ कुण्डार' की ऐतिहासिक घटनाएँ बड़ी कुचक्रपूर्ण तथा अन्त दानवीय है अतः लेखक को अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कल्पना से तारा और दिवाकर जैसे प्रेमी पात्रों की सृष्टि करनी पड़ी। 'कचनार' में भी इसी प्रकार दो समानान्तर कथाओं की सृष्टि की गई है। 'विराटा की पद्मिनी' और 'कचनार' में लेखक ने कल्पना का अत्यधिक आश्रय लिया है। ऐतिहासिक घटनाएँ कम और कल्पित वातावरण अधिक होने से कला की दृष्टि से ये दोनों उपन्यास अधिक सफल बन पाए हैं। 'गढ़कुण्डार', 'लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' में ऐतिहासिक तथ्य अपेक्षाकृत अधिक हो गए हैं और कल्पना के सुन्दर समन्वय के बावजूद ये उपन्यास कुछ भारी जान पड़ते हैं।

हम निस्सन्देह रूप से कह सकते हैं कि वर्मा जी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों के ऐतिहासिक और स्थायी मूल्य हिन्दी साहित्य की निधि हैं।

———

: १४ :

वीर रस नये संदर्भ में

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में उत्साह वह साहस है जो मनुष्य को दुस्तर लोकमंगल कार्य में आनन्द के साथ प्रवृत्त करता है। शुक्ल जी की परिभाषा के अनुकूल वीर रस का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो उठता है। वही प्राचीन व्यवस्था के अनुसार केवल युद्ध, दान, धर्म और सत्य के चार क्षेत्रों में ही सिमट कर नहीं रह जाता वरन वह जीवन के व्यापक क्षेत्र में प्रसारगामी होकर प्रत्येक कठिन कार्य को आनन्द के साथ सम्पन्न करने के उत्साह में लक्षित होता है। शुक्ल जी के अनुसार उत्साह का महत्तम रूप वहीं दिखाई पड़ता है जहाँ उत्साही के प्राण का संकट महत्तम हो। प्राणत्याग की सम्भावना के अनुपात में ही उत्साह की लघुता और महानता का स्वरूप निर्धारित होता है और चूंकि उत्साह में प्राणत्याग का अवकाश अधिक होता है इसीलिए वीर रस का प्रत्यक्ष और उत्कट रूप युद्धोत्साह में ही दृष्टिगत होता है।

वीर रस इतना प्रसारगामी होकर समाज के विविध उत्साह-रूपों को अंकित करने में समर्थ है और वह समाज को शक्ति और विश्वास प्रदान करता है। यदि वीर रस को हम केवल शास्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल चार क्षेत्रों में ही सीमित मान लें तो आज के समाज के लिए वीर रस प्रधान कविता की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती, उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन ही हो सकता है। वह वर्तमान जीवन के लिए न तो प्रेरणा छोड़ सकती है और न इसे सही रूप में अंकित ही कर सकती है। कारण स्पष्ट है। युद्धवीर को लीजिये—प्राचीन काल में तलवारों, भालों, तीरों और भुजाओं आदि की लड़ाइयाँ होती थीं, इन लड़ाइयों में शारीरिक बल का कौशल ही प्रधान था। प्रत्यक्ष लड़ाइयों को देख-कर वीरता का प्रत्यक्ष रूप मूर्तिमान हो उठता था। कभी जाति-सम्मान की रक्षा और बहुधा व्यक्तिगत राज्य-विस्तार या कन्याहरण या अहं की तृप्ति आदि इन लड़ाइयों के कारण हुआ करते थे। जहाँ तक जातीय सम्मान की रक्षा का प्रश्न है ये वीर रस की कविताएँ जातीय संघर्ष का सही रूप प्रस्तुत

करती थीं, उनमें जातीय भावना की उष्मता होने के कारण वे कविताएँ समाज की प्रतिनिधि होती थीं। और जहाँ तक अन्य प्रकार के युद्धों से सम्बद्ध वीर रस की कविताओं का प्रश्न है वे कृत्रिम निर्जीव शब्दों की उछल-कूद से भरी, अतः जनता के हृदय को छू सकने में असमर्थ थीं क्योंकि वीर रस के नायक जाति या जनता के प्रतिनिधि के रूप में युद्ध नहीं करते थे। ऐसी कविताओं का सम्बन्ध जनता के हृदय से नहीं वरन आश्रित दरबारियों की चाटुकारिता से था। राम, कृष्ण, पाण्डव, रघुवंश के राजे आदि प्रजापालक राजे थे, वे लोग धर्म के पालन के लिए विकट अत्याचारियों से युद्ध करते थे। इसीलिए उनकी विजयों पर देवता भी फूल बरसाते थे।

जिन वीर रस की कविताओं का सम्बन्ध स्वार्थी युद्धरत नायकों से था वे कविताएँ न तो अपने काल के समाज के लिए उपयोगी और प्रतिनिधि स्वरूप थीं और न आज के समाज के लिए ही, उनमें काव्य-सौन्दर्य भले ही लक्षित होता हो। लोक जीवन के प्रतिनिधि नायकों से सम्बद्ध युद्ध सम्बन्धी कविताएँ भी अपने युग के संघर्षों का प्रतिबिम्ब अवश्य हैं किन्तु वे आज के समाज के अनुकूल नहीं है। कारण यह है कि अब युद्ध की शैलियाँ बदल गई हैं। यहाँ प्रत्यक्ष बाहु-कौशल के स्थान पर बौद्धिक कौशल का महत्त्व हो गया है। बड़े-बड़े संहारकारी शस्त्र निर्मित हो गए हैं जिनके प्रयोग से पल भर में देश के देश साफ हो सकते हैं। इन अस्त्रों के प्रयोग से उत्साह, बल-विक्रम आदि का पता नहीं चलता। अतएव इन युद्ध शैलियों पर लिखी गई कविताओं से वीर रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि आज के युद्ध प्रायः पूंजीवादी और उपनिवेशवादी स्वार्थों के नग्न ताण्डव के परिणामस्वरूप हो रहे हैं, उनमें मानवता और उदार राष्ट्रीय भावना काम नहीं करती हैं। आज के समाज की वास्तविक आकांक्षा है शान्ति की स्थापना। इसलिए ये युद्ध राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय जनता की वास्तविक समस्याओं, इच्छाओं और संघर्षों से असम्पृक्त हैं। इन युद्धों में न तो वीर रस की मौलिक चेतना और शक्ति है और न उसका वाह्य स्वरूप ही। हाँ यह जरूर है कि समाजवादी व्यवस्था चाहने वाले राष्ट्र जब शोषक पूंजीवादियों के अत्याचारों का उत्तर देने के लिए युद्धरत होते हैं तो जनता की इच्छाएँ ध्वनित हो उठती हैं। इनसे सम्बद्ध कविताओं में वीर रस की चेतना तो अवश्य होती है किन्तु इन युद्धों के स्वरूप और उनके चित्रण से

वीर रस की निष्पत्ति नहीं हो पाती।

इसी प्रकार सत्यवीर, धर्मवीर और दानवीर आज की वीर रस की कविताओं के नायक बनने योग्य नहीं क्योंकि वे आज के समाज की मूल चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। ये वीर रस की कविताएँ प्राचीन युग के ऋजु और अध्यात्मोन्मुखी समाज का चित्र प्रस्तुत करती रहीं हैं तथा उन्हें अनुप्राणित करती रही है किन्तु आज ऐसे वीरों की अनिवार्यता नहीं है। आज ऐसे वीरों की कृतियों से हमें सहानुभूति नहीं हो सकती क्योंकि भौतिकवादी चेतना की ओर अग्रसर वर्तमान समाज के आदर्शों, सामाजिक सम्बन्धों, वास्तविकताओं, नैतिक मानों और समस्याओं का स्वरूप पहले से बहुत भिन्न हो गया है। आज सत्य, धर्म और दान का निरपेक्ष महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। सत्य बोलकर, धर्म का पालन कर या दान देकर यदि कोई नेता राष्ट्र का अकल्याण कर बैठता है तो वह हमारी नजरों से गिर जाता है, वह घोर अनैतिक है। इस जटिल और नाना पेचीदा परिस्थितियों से उलझे हुए जीवन और समाज में न तो कोई निरपेक्ष रूप से सत्य और धर्म का पालन ही कर सकता है और न वह सब समय श्रेयस्कर ही है। दान शोषक संस्कृति का ध्वंसावशेष होकर रह गया है। वर्तमान समाज ऐसी व्यस्था का हितैषी है जिसमें सब लोग समान हों, परिश्रम करें और जीवन के बहुमुखी विकास और सुरक्षा का अधिकार प्राप्त करें। दान तो वह करता है जो सैकड़ों की सम्पत्ति छल से अपने पास एकत्र करता है। इस प्रकार वीर रस के बँधे-बँधाए रूप वर्त्तमान समाज के काम के नहीं रह गए हैं। इसीलिए आजकल ऐसी कविताओं का चलन उठ गया है। 'हल्दी घाटी', 'जौहर' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार की कविताएँ दिखाई पड़ीं किन्तु वे अपने क्षेत्र में शैली की नवीनता के कारण दो दिन की चमक-दमक दिखाकर विलुप्त-प्राय हो गईं। इनके विलुप्त होने का कारण काव्यगत कुशलता के उत्कर्ष का अभाव तो है ही साथ ही साथ मूल सामाजिक चेतना से अलगाव भी है।

प्रश्न उठता है कि क्या वीर रस की कविताओं में सामाजिक चेतना को स्पन्दित करने की कोई शक्ति ही नहीं रह गई है? निश्चय ही इन कविताओं में सामाजिक संघर्ष को ध्वनित करने की क्षमता है किन्तु यह घोषणा करने के पहले हमें वीर रस को उसके व्यापक अर्थ में देखना होगा, उस अर्थ में जिसमें

शुक्ल जी ने देखा है। उत्साह का क्षेत्र व्यापक है, वह जीवन के हर एक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। नेता प्राणों का संकट लेकर परतन्त्र देश को स्वाधीन करने के लिए आनन्द के साथ निकल पड़ते हैं, सत्याग्रह के रूप में उनका संघर्ष छिड़ता है शस्त्रों के रूप में नहीं। उनके इस शस्त्रहीन युद्ध से 'बयालीस' की वीर रस की गाथाएँ लिखी जाती हैं। गान्धी जी महान वीर थे गो कि न तो उनकी देह पर एक मुट्ठी माँस था और न ही उन्होंने कभी हथियार उठाया किन्तु उनकी लगन, साहस और अपने कर्मों में आनन्दमय तत्परता वीरता के लक्षण हैं। उनकी शान्तिवादी नीति पर चलने वाले पं० जवाहरलाल नेहरू आज विश्व के अद्वितीय वीर हैं जो कि न तो वे पुराने अर्थों में युद्धवीर हैं न सत्यवीर, न दानवीर, न धर्मवीर। मार्क्स और एंगिल्स ने कभी लड़ाई नहीं लड़ी किन्तु उन्होंने नई मनुष्यता, समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए जीवन भर सोत्साह कठिन चिन्तन किया, वे महान वीर थे। लेनिन, स्टालिन आदि ने समाजवादी चिन्तन को व्यावहारिक रूप देकर महान वीरता का काम किया है। दूसरी ओर साम्राज्यवादी नेता जन-भावना के विपरीत जगह-जगह बम-बरसाकर और लाखों के प्राण संकट में डालकर कायर ही सिद्ध हुए हैं।

इसी तरह दैवी प्रकोप और गरीबी से बार-बार जूझ कर भी भविष्य के निर्माण में रत किसान वीर हैं। सामूहिक उत्थान के लिए शोषकों से संघर्ष करने वाले हड़ताली मजदूर, अभावों से संघर्ष करने वाले कलाकार, जान जोखिम में डाल कर नई-नई खोज करने वाले, नई-नई चढ़ाइयाँ करने वाले, विनाशकारी सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों को तोड़कर लाख विरोध सहकर भी नई जन-चेतना फैलाने वाले उत्साही वीर हैं और निरीह जनता पर जुल्म की बौछार करने वाले, शेर और हिरन मारने वाले अस्त्रधारी साहब, रईस और पूंजीपति लोग कायर और निकम्मे है। बहादुरी का डंका पीट कर डाके डालने वाले खूंखार डाकू का पुरुष हैं। धार्मिक रूढ़ियों, बन्द चहार दीवारी में अपने को समेट कर धर्मात्मा बनने वाले शूरवीर लोग महान कायर हैं जो एक ओर तो जाति-पांति के संक्रामक रोगों से भाग कर मानवता से सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं और दूसरी ओर अपनी वीरता दिखाने के लिए उन्हीं गरीबों के शरीर पर अपनी भट्टी से दाह पटक देते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह जीवन के

नाना क्षेत्रों में फैला हुआ है और तथाकथित पुराना उत्साह आज निकम्मा सिद्ध हो चुका है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त ढंग के सच्चे उत्साहों से सम्बद्ध कविताएँ समाज की शक्तियों और विश्वासों को ध्वनित करती हैं और समाज को शक्तिशाली बनाती हैं। इन कविताओं के साथ किसी न किसी रूप में लोकमंगल की भावना सम्पृक्त होती है। इसलिए लोक हितैषिता की दृष्टि से इन कविताओं का स्थान सबसे ऊँचा है। वीरता में हमेशा मानवता की भावना भरी होती है इसीलिए सिकन्दर जैसे योद्धा सच्चे अर्थों में वीर नहीं थे, लुटेरे थे। नई व्याख्या के अनुसार वीर रस समाज का सच्चा प्रतिबिम्ब और शक्ति-प्रणेता है।

: १५ :

गीतिकाव्य और लोकजीवन

'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुःख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।' —महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा का उक्त कथन गीतिकाव्य के अन्तर और वाह्य स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या है। साथ ही यह भी कि वह गीतिकाव्य के अनुभूति पक्ष के सम्बन्ध में प्रचलित एक वर्ग की धारणाओं का प्रतिनिधि है। "व्यक्तिगत सीमा में तीव्र-सुख-दुःखात्मक अनुभूति का शब्द रूप गीत है," यह मान्यता गीत के रूप को संकुचित कर देती है। व्यक्तिगत सुख-दुःख और आत्मानुभूति ऊपरी तौर पर समानार्थक मालूम पड़ते है और कुछ दूर तक हैं भी, किन्तु गहराई से विवेचन करने पर आत्मानुभूति शब्द व्यक्तिगत सुख-दुःख से अधिक व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु ऊपर के उद्धरण में या इसी प्रकार की मान्यताओं में विश्वास रखने वाले अन्य विचारकों के कथनों में प्रायः आत्मानुभूति व्यक्तिगत सुख-दुःख का पर्याय ही है। अतः यहाँ विचार का विषय यह है कि गीतों में आत्मानुभूति—स्वानुभूति की—व्यंजना कहाँ तक, किन रूपों में होती है तथा आत्मानुभूति के अतिरिक्त इतर जगत का चित्र कहाँ तक होता है।

'काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है।'

—आचार्य शुक्ल

कविता मात्र का यह उद्देश्य होता है कि वह सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराये। अर्थात् जो कुछ ससार में, जीवन में हो रहा है उन सामान्य व्यापारों, दृश्यों, अनुभूतियों का कवि स्वयं अनुभव करे और तब उन्हें इस प्रकार कला के माध्यम से चित्रित करे कि प्रत्येक पाठक उन्हें आत्मभूत कर सके। जगत-जीवन के सामान्य व्यापारों का वह ज्ञान मात्र न प्राप्त करे बल्कि उनका अनुभव करने लगे, जैसे वे व्यापार, वे अनुभूतियाँ उसकी स्वयं की हैं। इसलिए कवि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह व्यापक से व्यापक, उदात्त से उदात्त, गहरे से गहरे जीवन-सौन्दर्य को आंकने के लिये

जीवन का व्यापक और गहरा अध्ययन करे और सबकी अनुभूतियों का स्वयं अनुभव करे। तभी वह संवेदनशील काव्य का निर्माण कर सकता है; अन्यथा वह या तो सतही तौर पर जीवन जगत के विस्तार का इतिवृत्त लिखेगा या अपने निजी सुखों-दुखों की सीमा में डूबा रहेगा। एक में विस्तार होगा, गहराई नहीं, दूसरे में गहराई होगी किन्तु सामाजिक व्यापकता नहीं। इसीलिए शुक्ल जी ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट कहते हैं कि उसके (काव्य के) साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा नहीं छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। यह स्पष्ट है कि कवि को उच्चकोटि की कविता लिखने के लिए सर्वभूत को आत्मभूत कर लेना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में वह स्वेतर अनुभूतियों के चित्रण में भी स्वानुभूतियों के चित्रण की गहराई और मार्मिकता भर सकता है। कविता के लिये आत्मानुभूति तो अत्यन्त ही आवश्यक है, बिना उसके कविता में दर्द उत्पन्न नहीं हो सकता; वह प्रभावशून्य मालूम पड़ेगी। फर्क इतना ही होता है कि जो अपनी निजी अनुभूतियों की सीमा में बँधा रहता है वह जैसे इस विस्तृत जगत में एक हरा-भरा पेड़ खड़ा कर देता है और जो समाज की अनुभूतियों का अनुभव कर उन्हें निजी अनुभूतियों के समान ही अपना बना लेता है वह जैसे विस्तृत भूखण्ड में विविध, रंगीन पेड़ों का हरा भरा बन उगा देता है।

प्रश्न उठता है कि तब गीतिकाव्य और अन्य प्रकार के काव्यों में सीमा-रेखा कहां है? क्या गीतिकाव्य और अन्य काव्यों में केवल रूपगत भेद है या विषयगत भेद भी? प्रबन्ध काव्य में मार्मिक भाव निरूपण के स्थलों के अतिरिक्त इतिवृत्तात्मक नीरस स्थल भी होते हैं, क्योंकि प्रबन्ध काव्य में कथा भी होती है और इसीलिये उसमें एक साथ शृंखलित रूप से जीवन जगत की विविधता अंकित रहती है। मुक्तक में प्रबन्ध काव्य की ये अतिरिक्त विशेषताएँ नहीं होतीं क्योंकि वह जीवन जगत की किसी एक क्षण की मार्मिक व्यंजना करता है। मुक्तक अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण होते हैं। मुक्तकों में प्रबन्ध काव्य की-सी नीरस इतिवृत्तात्मकता नहीं खप सकती। मुक्तकों में भी कई प्रकार होते हैं, जिनमें एक 'गीत' भी है। विषय विस्तार की दृष्टि से समस्त मुक्तकों में एकता होने पर भी प्रकृति की दृष्टि से उनमें भिन्नता लक्षित होती

है। मनुष्य स्वभाव से ही संगीतप्रिय है। वह संगीत में अपने या सामाजिक उल्लासों और विषादों को व्यक्त करता आया है। संगीत मानसिक उफान को व्यक्त करने का सहज और प्रभावशाली माध्यम है। गीत गेय होते हैं, अतः गीतों में अनुभूति की ही व्यंजना प्रधान रूप से होती है। वे अनुभूतियाँ गीतात्मक छन्दों में सहज रूप से फूट पड़ती हैं, उनमें स्वाभाविक वेग होता है। वे प्रयासशील नहीं होतीं। गीतों में या संगीत में वाह्य दृश्यनिरूपण कम मिलता है, जहाँ मिलता भी है वहाँ उनका कवि के रागात्मक हृदय से सीधा सम्पर्क होता है। इसलिए जब वस्तुचित्रण प्रबन्ध काव्य या अन्य मुक्तक प्रकरणों में होता है तब उनमें प्रायः कवि की तटस्थ दृष्टि दिखाई पड़ती है। किन्तु गीतों में वे वस्तुएँ हृदय के रस में शराबोर होकर उभरती हैं।

गीतेतर मुक्तकों से मुख्यतया लोग वाह्य दृश्यनिरूपण का ही काम लेते हैं। कहीं-कहीं इतिवृत्तात्मक प्रसार भी उनमें लक्षित होता है। आजकल के मुक्त छन्दों और द्विवेदीकालीन तथा वर्त्तमान प्रगतिशील मुक्तक कविताओं में काव्यात्मक अंश भी पर्याप्त मात्रा में है। ध्यान रखने की बात है कि जब मुक्तक कविताओं में इतिवृत्त आयेगा तब वह बहुत कटा-छंटा, संयमित और मार्मिक स्थलों से सम्बद्ध रूप से ही आएगा। जहाँ वह नीरस वर्णन हुआ कि मुक्तक कविताओं की सारी गठन और चुस्ती समाप्त हो गई। यह कोई सिद्धान्त की बात नहीं है बल्कि छन्दों की प्रकृति को देखते हुए लोग प्रायः ऐसा ही व्यवहार करते है। इन छन्दों में तन्मयता उत्पन्न कर देने वाली भावधाराओं को वहन कर सकने की सहज क्षमता नहीं होती। इसलिये दोहों, कवित्तों, घनाक्षरियों, सवैयों आदि में ऐसी कविताएँ कम लिखी गई हैं जिनमें कवि-स्वानुभूति या अपनी-सी बना ली गई सामाजिक अनुभूति की व्यंजना दिखाई पड़ती है। उदाहरणस्वरूप हम हिन्दी साहित्य के इतिहास को सामने रख सकते हैं। आदि काल का काव्य अत्यधिक बहिर्मुखी है। युद्धों का वर्णन, राज्यदरबारों का वर्णन, राजसी ठाठ का वर्णन आदि के रूपों में तो वाह्य दृश्यनिरूपण है ही, रूप वर्णन और प्रेमोद्गारों में भी रूढ़ियों और कवि प्रसिद्धियों का ही आश्रय लिया गया है। ये भी एक तरह से वाह्य दृश्य के अन्तर्गत ही आते हैं। आदि काल में गीतों का अस्तित्व नहीं के बराबर है। भक्तिकाल में भक्त कवियों का भावोच्छ्वास रूढ़ियों का बन्धन स्वीकार न

कर सका। वह झरने की तरह गीतों में फूट पड़ा। यह विचारणीय है कि इन भक्त कवियों के दो स्वरूप थे: (१) संवेदनशील कवि का रूप, (२) समाज सुधारक नेता का रूप। इनके कवि रूप को भी हम दो धाराओं में बहते हुए देखते हैं। एक तो मार्मिक अनुभूतियों की धारा में, दूसरे बाह्य सौन्दर्य के निरूपण की धारा में। जहाँ तुलसी कबीर ने सामाजिक आदर्श और नैतिकता सम्बन्धी कविताएँ रचीं वहाँ उन्होंने विशेषतया दोहों और प्रबन्ध काव्यों (तुलसी के पक्ष में) का आश्रय लिया, और जहाँ जगत जीवन के बाह्य सौन्दर्य अंकनों, वस्तुनिरूपणों, दृश्य चित्रणों और इनके साथ-साथ भाव छवियों की व्यंजनाओं को लक्ष्य में रखा वहाँ भी उन्होंने दोहों-चौपाइयों (तुलसी ने) कवित्तों, सवैयों, बरवै, सोहरों और प्रबन्ध काव्यों को ही पकड़ा। किन्तु जहाँ इन कवियों को केवल भावावेगों और अनुभूति-धाराओं को चित्रण करना अभीष्ट रहा वहाँ इन्होने गीत ही रचे। सूर और मीरा की कविताओं में एक मात्र गीत की उपलब्धि का यही रहस्य है। ये कवि केवल कवि थे और उनमें भी हृदय के भीतर मग्न रहने वाले।

रीति काल का काव्य अपने युग से प्रभावित होकर फिर अत्यधिक बहिर्मुखी हो गया। इस काल में सवैयों और घनाक्षरियों की ही भीड़ दिखाई देती है।

छायावाद काल फिर नई काव्य चेतना लेकर आविर्भूत हुआ। सामन्ती रूढ़ियों के विरुद्ध व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता उठ खड़ी हुई, अतएव काव्य अन्तर्मुखी हो उठा। बाह्य दृश्य भी कवि की अनुभूतियों के रंग मे रंजित होकर निरूपित होने लगे। व्यक्तिवादी कोमल भावनाओं और अनुभूतियों के वेग गीतों में मुखर होने लगे।

प्रगतिवाद के प्रारंभ में हम ध्वंस, किसान-मजदूरों के प्रति मौखिक सहानुभूति, नये समाज के प्रति एक सैद्धान्तिक आग्रह की ललकार ही अधिक सुनते हैं। जन-जीवन के निकट के अध्ययन, सामाजिक संघर्षों की अनुभूतियों, किसान-मजदूरों की वास्तविक सामूहिक सुख-दुख की चेतनाओं का अभाव मिलता है। इसलिये प्रारंभिक प्रगतिशील काव्य में गीतों का अस्तित्व कम लक्षित होता है। बाद में इधर वास्तविक जनवादी चेतना के जागरूक होने पर अर्थात् धीरे-धीरे जनता से अनुभूतिगत सम्बन्ध स्थापित होने पर गीतों की बाढ़-सी दिखाई पड़ने लगी है।

ऊपर के विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि गीत अपनी कोमल और अनुभूतिमुखी प्रकृति के कारण वाह्य दृश्यनिरूपणों के बोझ को और नैतिक उपदेशों या नारों के भार को वहन नहीं कर सकता जब कि दूसरे छन्द गीत की इन विशेषताओं को स्वाभाविक रूप से ढोने में असमर्थ हैं। स्वाभाविक रूप से इसलिये कहा गया कि कवि चाहे तो इन गीतेतर मुक्तकों में या प्रबन्ध काव्यों में गीतात्मक दर्द उत्पन्न कर सकता है और करता ही है, किन्तु प्रायः जब उसे ऐसा करना होता है तो वह गीतों का सहारा लेता है। प्रबन्ध काव्यों के भीतर तो काव्य के सभी गुण अन्तर्भूत होते हैं। इतिवृत्तों के बीच में जो मार्मिक भावस्थल आते हैं वे गीतों की तरह ही संवेदनशील हो उठते हैं। रामचरित मानस में लक्ष्मण को शक्ति वाण लगने के अवसर पर राम का विलाप एक गीत ही तो है। यहाँ पात्र अपने आगे-पीछे के बाहरी-भीतरी बन्धनों से मुक्त होकर अपनी हार्दिक पीड़ा और उल्लास को व्यक्त कर उठता है। अतएव ये स्थल अन्य छन्दों में बँधकर भी गीतों की तरह सहज वेग से थोड़ी देर के लिये उमड़ उठते है। जायसी का नागमती-विरह-वर्णन भी इसी कोटि का स्थल है। इसी प्रकार जब कवि वाह्य दृश्यचित्रण से अपना ध्यान हटा कर अर्न्तवृत्तियों के उद्घाटन में लीन होता है तब उसके दोहे, कवित्त, सवैये आदि मुक्तक छन्द भी गीत का रस देने लगते हैं। कबीर का यह दोहा—

नैना नीझर लाइयां रहट बसे दिन जाम
पपिहा ज्यों पिउ पिउ करूँ कबरु मिलहुगे राम ।।

और घनानन्द के कवित्त तथा सवैये अपनी भावमयता और रसलीनता में गीतों के समीप ठहरते हैं।

इस विश्लेषण से यह निश्चय ठहरता है कि गीत-काव्य का प्रधान क्षेत्र अनुभूति और भावावेग है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि ये अनुभूतियाँ और भावावेग किस प्रकार के हों। महादेवी जी के ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि एक वर्ग ऐसा है जो गीतों की अनुभूतियों को कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रतिफलन मानता है। मेरा अपना विचार है कि ऐसा सोचने वाले गीत-काव्य की सारी संभावनाओं को अँधेरे से ढक देते हैं। ऐसी मान्यता न तो इतिहास की दृष्टि से सत्य है और न गीतों की व्यापकता और उनकी भावी संभावनाओं के प्रति आशावान्। कवि की अनुभूतियाँ निरपेक्ष नहीं होतीं, वे

युग और समाज की चेतनाओं से प्रभावित होती हैं। युगचेतना कवि की अनुभूतियों और दृष्टियों का प्रसार और संकोच करती है। जिस काल की युगचेतना मार्मिक होगी उस काल के कवियों की अनुभूतियाँ भी प्रसारगामी और सामाजिक अनुभूतियों से अविच्छिन्न होंगी। जिस काल की युगचेतना व्यक्तिवादी होगी उस काल के कवियों की अनुभूतियाँ वैयक्तिक घेरे में संकुचित और सामाजिक अनुभूतियों से विच्छिन्न होंगी। पहले प्रकार की अनुभूतियों के दो स्वरूप होंगे—एक तो कवि की निजी अनुभूतियाँ भी अपने अति वैयक्तिक रुदन-हास, हार-जीत के एकान्त कक्ष में बन्दी न होकर सामाजिक रुदन-हास, हार-जीत, आशा-विश्वास के साथ तादात्म्य स्थापित कर वेगवती धारा में फूट पड़ेंगी, दूसरे कवि समाज की विभिन्न परिस्थितियों में पड़े हुए विभिन्न पात्रों की मानसिक दशाओं के साथ अपने हृदय को लीन कर देगा और बड़ी मार्मिकता से उन पात्रों की अनुभूतियों का चित्र उतारेगा। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि कवि विभिन्न परिस्थितियों के विभिन्न पात्रों की स्थितियों का केवल ज्ञान प्राप्त कर गीत के रूप में उनके भावावेगों को अंकित नहीं कर सकता, यह आवश्यक है कि वह उन-उन पात्रों की मानसिक स्थितियों की अनुभूति रखता हो। इसलिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वभूत को आत्मभूत करने-कराने की बात कही है।

आदिम साम्यवाद के युग में मनुष्यों का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। वे साथ-साथ जीविका अर्जित करते थे, साथ-साथ भोजन पकाते खाते थे और सामूहिक गीत गाते तथा नाचते थे। उनके गीत उनके सामूहिक जीवन को अभिव्यक्त करते थे। उनमें उनका सामाजिक उल्लास व्यक्त था। ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व बढ़ता गया, गीतों मे भी सामूहिक चेतना का अभाव होता गया।

हिन्दी का भक्तिकाल भी गीत-बहुल है। उसमें दोनों प्रकार के गीत (पद) मिलते हैं। सूरदास, तुलसीदास, कबीर और मीरा ने व्यक्तिगत साधना के गीत गाये हैं जो उनके विनय के पदों के रूप में हैं। इनमें कवियों की निजी भक्ति सम्बन्धी अनुभूतियाँ ही मुखर हैं, लेकिन वे तत्कालीन ईश्वर-विश्वासी जनता की अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे कविताएँ अपने भावनात्मक वेग और संवेदनशीलता के कारण आज के भी भक्तों और

काव्य-प्रेमियों के कण्ठहार बनी हुई हैं। इन गीतों के अतिरिक्त तुलसी ने *गीतावली* में और सूर ने विनयपदेतर पदों में जो गीत रूप दिये हैं वे विभिन्न पात्रों की मानसिक स्थितियों के चित्र हैं। गीतावली में राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, तथा सूरसागर में कृष्ण, यशोदा, नन्द, राधा, अन्य गोप-गोपियों, और उद्धव आदि की अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना है। इन गीतों में वाह्य दृश्य भी निरूपित हुए हैं। किन्तु वे पात्रों की रागात्मक सत्ता में डूबे हुए हैं।

भक्तिकाल के बाद गीतों की बहुलता छायावाद युग में दिखाई पड़ी। कहा जा चुका है कि इस काल की मुख्य चेतना व्यक्तिवादी थी। कवियों ने गीतों में (इतर कविताओं में भी) व्यक्तिगत संयोग-वियोग, आशा-निराशा के गीत गाने शुरू किये। इससे इतना अवश्य हुआ कि सामन्ती रूढ़ियों और चेतनाओं को तोड़कर एक नया आलोक फूटा, किन्तु वह आलोक देर तक न टिक सका और धीरे धीरे पूंजीवादी स्वार्थों के अंधेरे से ढँकने लगा तथा कवि इस अंधेरे के परिणामस्वरूप उत्पन्न निराशाओं और पीड़ाओं को स्वर देने लगे; यह नहीं हुआ कि इस सामाजिक व्यवस्था और अत्याचार का सामूहिक रूप से विरोध करें। गीत-काव्य का विषयपक्ष संकुचित हो गया। विशेषतया महादेवी और बच्चन इस व्यक्तिवादिता की चरमसीमा पर पहुँच गए। इस काल के गीतों में प्रकृति-चित्रण के रूप में वाह्य दृश्यनिरूपण भी अधिक दिखाई पड़ता है किन्तु इस काल की प्रकृति निर्जीव स्थूल वस्तु न रह कर अन्तर्चेतना से अनुप्राणित हुई। कवियों ने प्रकृति को अपने ही समान सुख-दुख की चेतना से अभिभूत देखा। प्रकृति का सौन्दर्य इनकी लौकिक और तथाकथित पारलौकिक सौन्दर्यानुभूतियों को जाग्रत करता रहा। मोती की आभा की तरह प्रकृति या नारी का सौन्दर्य बाहर-भीतर एक होकर आया और इन सौन्दर्यों का आकलन निरपेक्ष या वस्तुगत दृष्टि से नहीं वरन् सापेक्ष और व्यक्तिगत दृष्टि से हुआ। इसीलिये इन्हें हम स्थूल वस्तु निरूपण नहीं कह सकते। ये प्राकृतिक दृश्य कवियों की सौन्दर्यानुभूतियों के आधार बन कर तो आए ही, साथ ही कवियों ने उनके माध्यम से अपने व्यक्तिवादी नये दर्शन को भी ध्वनित किया। नारी सौन्दर्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इन व्यक्तिवादी गीतों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में 'हिमाद्रि तुंग शृंग

से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' जैसे समवेत राष्ट्रीय गीत भी दिखाई पड़ जाते हैं लेकिन वे संख्या में अत्यल्प हैं।

गीतों का फिर नया दौर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में देखने को मिलता है। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ में विश्वास रखता है और प्रयोगवाद व्यक्तिवाद में। प्रगतिवाद पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने वाली समाजवादी व्यवस्था के साथ है। वह संघर्षशील नये समाज के सामूहिक दुख-दर्द, शक्ति-उल्लास, उनकी भावी सफलताओं तथा उनके नये सम्बन्धों से फूटती अनेक छवियों का चित्र उतारता है। प्रगतिवादी गीत छायावादी व्यक्तिगत अनुभूतियों के घेरे को तोड़ कर गाँवों, खेतों, खलिहानों, शहरों की विपन्न गन्दी गलियों, कारखानों और उन अनेक अंधकार भरे स्थानों की आवाज़ों को मुखर कर रहा है जहाँ नया जीवन सीमाओं से युद्ध करता हुआ नया युग लाने के लिए तड़प रहा है। अनुभूतियाँ ही इन गीतों में भी प्रमुख हैं; किन्तु ये अनुभूतियाँ जीवनोन्मुख विशाल मानव समाज की हैं। गीतकार अपने को समाज के विभिन्न पात्रों की विभिन्न परिस्थितियों में डाल कर उनकी संवेदनाओं को अपना लेता है और उन्हें इस प्रकार स्वर देता है कि गीत की तन्मयता और अनुभूतिगत गहराई तो बनी ही रहती है, साथ ही साथ जन जीवन का विषद चित्र आँकने का भी उन्हें गौरव प्राप्त हो जाता है।

प्रगतिवादी गीतों में विषय का विस्तार खूब हुआ है। वाह्य दृश्यों का अंकन भी इनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। खेत, जंगल, बाग-बगीचे, रास्ते, कारखाने, मज़दूरों की वेश-भूषा, उनके खान-पान, विभिन्न ऋतुओं के परिस्थितिगत रूप आदि अनेक वाह्य वस्तुएँ इन गीतों में अंकित हैं। किन्तु यहाँ भी हम वही बात दुहराना चाहेंगे कि ये वाह्य वस्तुएँ गीतों में अनुभूतियों से लिपटी हुई आई हैं। इनका तटस्थ चित्रण प्रायः नहीं हुआ है, या कम हुआ है। कवि अपनी या अपने पात्रों की अनुभूति और दृष्टिकोण के अनुकूल प्रकृति के सौन्दर्य का चयन करता है। यह चयन छायावादी और प्रयोगवादी प्रयोग से भिन्न है। इनके चित्रण से वह व्यक्तिवादी कविताओं से भिन्न सामाजिक सौन्दर्य का प्रभाव उत्पन्न करता है। प्रगतिवादी गीत लोक-गीतों के-से उदात्त धरातल पर अधिष्ठित हैं। इनमें लोक-गीतों का प्रभाव इधर तेज़ी से बढ़ रहा है। लोक-गीतों में वैयक्तिक कुण्ठा नहीं होती, उनमें सर्वत्र समाज की सामूहिक भाव-धारा का

वेग होता है। शादी-विवाह, जन्मोत्सव, बेटी की विदाई, मेलों-त्यौहारों और जीवन के अनेक अवसरों पर गाये जाने वाले लोक-गीतों में लोक अनुभूति ही मुखर दिखाई पड़ती है। इसीलिए इनमें जो दर्द और संवेदनाओं का वेग दिखाई पड़ता है वह अन्यत्र कम है। इन लोक-गीतों में व्यंग्य की मात्रा भी प्रचुर है। वे व्यंग्य भी बनावटी नहीं है वरन् हमारी कुछ अनुभूतियों को सफलता से व्यक्त करने के सहज माध्यम हैं। लोक-गीतों का यह रूप सूर की कविताओं और भारतेन्दु कालीन हिन्दी कविताओं में दृष्टिगत होता है और इधर प्रगतिवाद में उभरा है।

प्रयोगवाद फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविज्ञान से प्रभावित है। वह प्रायः दमित वासनाओं, हीन भावनाओं आदि के अति वैयक्तिक स्वरूप तक ही सीमित है। वह मध्यमवर्गीय कुंठाओं को युग-सत्य मान कर उन्हें काव्य-रूप देता है। प्रयोगवादी गीतों में इसी प्रकार किसी एकान्त व्यक्ति-अनुभूति का स्वरूप मिलता है। प्रकृति के सौन्दर्य भी इनके भीतर के दमित वासना-दाह को उभारते हुए आते हैं। इन गीतों से गीतों की महान सम्भावनाओं के प्रति अविश्वास होने लगता है। ऐसा लगता है कि गीतों की शक्ति केवल अति-व्यक्तिगत भूख-प्यास व्यक्त करने भर की है।

किन्तु ये गीत युग के प्रतिनिधि गीत नहीं हैं। युग के प्रतिनिधि गीत वे जनवादी गीत हैं जो विराट जनसमूह के भावोच्छवासों से स्पन्दित है। ये गीत ही हमारी स्वस्थ परम्परा के अन्तर्गत आते हैं और स्वस्थ भावी परम्परा के निर्माण की ओर उन्मुख हैं। मैं यहाँ पर गीतों के कलापक्ष की शक्तियों और खामियों पर विचार नहीं कर रहा था। हो सकता है इन जनवादी गीतों में अनेक कलागत खामियाँ हों और ये खामियाँ सभी प्रकार के अशक्त कलाकारों के गीतों में सम्भाव्य हैं; किन्तु इनमें अनुभूतियों की विशदता है, सामाजिक जीवन का वेगवान स्पन्दन है और अनुभूतियों को ही दृष्टिकोण में रखकर गीतों पर विचार करना प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

अन्त में इतना कह कर अपनी बात समाप्त करता हूँ कि यदि आत्मानुभूति का अर्थ केवल निजी अनुभूतियों से है तो वह गीत शब्द की सीमा है और सिद्धान्त रूप से अग्राह्य है। यदि आत्मानुभूति का अर्थ यह है कि कवि जीवन-

जगत की विभिन्न परिस्थितियों का स्वयं अनुभव करे और अनेक परिस्थितियों की अनुभूतियों को अपना बनाकर चित्रित करे तो गीत-काव्य में आत्मानुभूति जैसी मान्यता गीत काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को व्यक्त कर सकती है और वह सैद्धान्तिक रूप से ग्राह्य है।)

———

: १६ :

नयी कविता : एक वक्तव्य

एक बार मेरे एक मित्र ने मेरी कविताओं के सम्बन्ध में राय व्यक्त करते हुए कहा था कि मेरी कवितायें नयी कविता की कोटि में ठीक-ठीक नहीं आतीं। मैंने पूछा—'सो क्यों ?' 'इसलिए कि नयी कविता में बात कहने के ढंग में एक ऐसी पेचीदगी और उलझाव ला दिया जाता है कि पाठक को उसमें गंभीरता का आभास मिलने लगता है, उसके गहन मर्म (?) को समझने के लिए उसे कुछ व्यायाम करना पड़ता है। और एक तुम हो कि अपनी बात सहज भाव से कह जाते हो।'

अपनी कविताओं के सम्बन्ध में व्यक्त मित्र की बात मैं स्वीकार करता हूँ किन्तु नई कविता सम्बन्धी उनकी व्याख्या मैं आज तक नहीं अपना सका हूँ। मुझे दुःख है कि मित्र के सुझाये हुये मार्ग पर एक कदम भी नहीं चल सका हूँ। इस पथ पर चलने की इच्छा हो, सो भी नहीं। **मैं सहजता को नयी-कविता की मुख्य विशेषताओं में से मानता हूं।** नयी-कविता अपने आप में ऐसी कोई साध्य वस्तु नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए कवि अपना व्यक्तित्व, अपना विवेक छोड़-कर इसके तथाकथित आचार्यों के इशारे पर भागता फिरे। 'कौआ कान लिए जा रहा है' किसी ने कह दिया और आप अपने को देखे बिना ही कौए के पीछे दौड़ने को चल निकले। 'नयी कविता' कविता पहले है, नयी बाद में। पहले की कविता में जो बनाव शृंगार था, जो विशद आयोजन था, गहनता का घटा टोप था नयी कविता ने उसकी परवाह किये बिना ही नये जीवन-सत्यों को बड़ी सहजता से व्यक्त करना शुरू किया। यही उसकी नवीनता है और 'नयी' यहीं पर सार्थक है। जो नयी कविता 'कविता' न होकर केवल 'नयी' रह जाती है और इस 'नयी' की भाग-दौड़ में विजय पाने के लिए तरह-तरह के पैंतरे बदलती है, इस 'नयी-मजलिस' में महत्त्व पाने के लिए जोकरों की तरह, तरह-तरह के चेहरे बनाती है, संवेदना और चिंतन के दिवालिएपन को छिपाने के लिए विचित्र प्रतीकों का माया जाल रचती है वह किसी ईमानदार कवि के लिए किस प्रकार स्पृहणीय हो सकती है मैं नहीं समझता। मैं अपने को ईमानदार

निश्चित रूप से मानता हूँ, कवि भी मानता हूँ—हाँ कितना छोटा या बड़ा कवि हूँ, स्वयं इसकी घोषणा करने की बेहयाई मैं अर्जित नहीं कर सका हूँ, कोई उम्मीद भी नहीं है।

मेरे मित्र ने नई कविता की जो व्याख्या की है वह सही तो है किन्तु वह उन थोड़ी कविताओं को ही स्पर्श कर पाती है जो सही अर्थों में प्रयोगवादी कविताओं की वंशज हैं। **और यह बिलकुल स्पष्ट सी चीज है कि नयी कविता प्रयोगवादी कविता का पर्याय मात्र नहीं है। नयी कविता में वे सभी कविताएँ आती हैं जो प्रयोगवाद के कुंठित व्यक्तिवाद और प्रगतिवाद के सीमित समाजवाद से मुक्त होकर (किन्तु दोनों की उपलब्धियों को स्वीकार कर) जगत और जीवन के सभी मर्मों को, छोटे बड़े सत्यों को, मन के सारे आस्था और अनास्था पूर्ण स्तरों को वाणी दे रही हैं।** जिन कवियों के हृदय में नये जीवन-सम्बन्धों से उद्भूत प्रश्नों और समस्याओं के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की तड़प है, मानव-जीवन की तीव्र संवेदना है, जीवन-संघर्ष की गहरी अनुभूति है जिन कवियों की आँखों में विविध रूपात्मक संसार को देखने की ललक है, जो वर्त्तमान जीवन को उसके विविध परिवेश में देखने समझने के लिए चिन्तनशील है वे कवि जान बूझ-कर पाठकों को शिल्प के चक्कर में डालने की बात कभी नहीं सोचेंगे। जान बूझ-कर पेचीदगी और उलझाव वे भरते हैं जिन्हें कहने को कुछ नहीं होता और कहने को आतुर दीखते है। ये कवि कविता को फैशन मानकर चलते हैं और चिन्तन और संवेग का आभास देने के लिए बुद्धि-व्यायाम से कविता के शरीर में अनेक भंगिमाएँ पैदा करते हैं। अतएव 'नयी कविता' का विशाल कवि-वर्ग कविता में सहजता के गुण को स्वीकारता है।

सहजता का अर्थ सतहीपन नहीं है। आज का मानव अपनी सारी लघुता और महानता, आस्था-अनास्था, शक्ति और विवशता, संगति और असंगति को लिए दिये जिस रूप में दिखाई पड़ रहा है, वही उसका सहज रूप है। इस सहज मानव को उसके परिवेश से काटकर बहुत महान या अत्यंत हीन रूप में कल्पित कर लेना असहज दृष्टिकोण का कार्य है, किन्तु आज की नयी कविता इन काल्पनिक स्थापनाओं और मिथ्या घोषणाओं में प्रवृत्त नहीं होती। **मानव अपनी राग-बोधात्मक और चिन्तनात्मक सम्पत्ति के साथ जैसा है, वैसा ही नयी कविता में आता है।** जो कवि मनुष्य के सहज व्यक्तित्व के अनेक स्तरों को

न छूकर चिन्तन-चिन्तन के नाम पर शुष्क शिल्प-व्यायाम करता है, प्राकृतिक और रागात्मक छवियों को पलायनवादी वृत्ति मानकर उनकी उपेक्षा करता है या जो कवि आज की जटिल परिस्थिति मे उलझे मानव की जटिल संवेदनाओं और उत्पन्न समस्याओं का विचार किये बिना लिबलिबे भावुकतापूर्ण गीत लिखता है, वह सहज कविता नहीं लिखता। उपर्युक्त दोनों प्रकार के कवि यथार्थ के दो छोरों पर विपरीत मुंह किये हुए बीच के व्यापक यथार्थ को देखते ही नहीं। सहजता का सम्बन्ध शिल्प से भी है। जिस बात को स्पष्ट रूप से (किन्तु कलात्मक ढंग से) कहा जा सकता है, उसे जान-बूझकर उलझाकर कहने से लाभ ? हाँ लाभ भी है—वह यह कि लोग उस कविता से कुछ उपलब्ध न कर उसकी गंभीरता का फ़तवा देने लगते हैं। कहीं-कहीं प्रतीक विषय की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा सार्थक होकर भी अधिक व्यक्तिगत और जाल-बद्ध हो जाने के कारण कविता को दुरूह और असहज कर देते हैं। अतएव मैं सहजता को नयी कविता के लिए—अपनी कविता के लिए भी—अपने मित्र के कथनानुसार बुरी चीज नहीं मानता, बल्कि मैं इसे आज की कविता का एक आवश्यक गुण मानता हूँ।

दुर्भाग्य से कवियों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बन गये हैं। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी खेमों के रूप में जो कवियों का बँटवारा हुआ था वह आज भी समाप्त नहीं हुआ। नयी कविता में बहुत दूर तक ये कृत्रिम सीमाएँ टूटीं; किन्तु उपर्युक्त संस्कार अब भी बहुतों से चिपके हुए हैं। परोक्ष रूप से आज भी ये खेमे कायम हैं। अतः इन खेमों में शरण न लेने वाले कवियों को दोनों स्वीकार की मुद्रा से नहीं देखते। किन्तु यह सत्य है कि किसी खेमे की मुहर कविता को उसके वास्तविक मूल्य से ऊपर नहीं उठा सकती। यह हो-हल्ला क्षणिक होता है। मैं अपने को किसी खेमे का शरणार्थी स्वीकार नहीं करता। मैं अपनी शक्ति और ईमानदारी के साथ सर्जना करने के आगे गुरु-कृपा को तुच्छ मानता हूँ। विश्वास करता हूँ कि शिवराचार्यों की कृपा और उपेक्षा का मूल्य स्थायी नहीं होता। यद्यपि **मैं वर्तमान जीवन की गहरी निराशा, पीड़ा और कुरूपता को सच्चाई के साथ चित्रित करने का पक्षपाती हूँ, किन्तु अन्ततोगत्वा सामाजिक दृष्टि में विश्वास करता हूँ। सामाजिक दृष्टि कवि को व्यक्तिगत पराजय के अंधकूप से उबारती है।** सामाजिक दृष्टि सुन्दर भविष्य के प्रति

विश्वास पुष्ट करती है। मैं व्यक्ति-सत्य के माध्यम से समाज-सत्य को व्यक्त करना श्लाघ्य मानता हूँ। आज जो कुछ हम अनुभव करते हैं, भोगते हैं उनमें कुछ हमारे निरे अपने होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो हमारे होकर भी सबके होते हैं। यहीं व्यक्ति और समाज की दूरी मिट जाती है। कविता के विषय कुछ भी हों, कवि अपनी संवेदना और दृष्टि से उन्हें नये जीवन के अनुकूल नयी अर्थमत्ता दे सकता है। **नयी कविता जीवन के छोटे-छोटे क्षणों और मनस्थितियों को बड़ी सहजता से व्यक्त करना जानती है।** अकारण मन का उल्लसित हो उठना, अकारण भारी हो उठना, छोटे-छोटे क्षणों का हमारे जीवन प्रवाह में आना और बिना किसी आयोजन के, बिना किसी विज्ञापन के हमें एक छोटा सा फूल थमा कर अपने को विलीन कर देना सहज घटना है; किन्तु हम इनकी उपेक्षा करते रहे है। नयी कविता ने इनका मूल्य निश्चित रूप से आँका है। मैंने भी इस तरह के कुछ प्रयास किये हैं।

नयी कविता स्वीकार करती है कि भोगा हुआ छोटा दर्द उधार लिए हुए बड़े दर्द से तीव्र होता है। यदि दर्द छोटा होते हुए भी सच्चा है तो उसकी संवेदनात्मक तीव्रता औरों को स्पर्श करेगी। और बड़ा कल्पित दर्द किसी को भी स्पर्श नहीं करेगा इसलिए नया कवि आस-पास के परिचित जीवन और प्रसंगों को कविता का विषय बनाता है तो उचित ही है। मैंने अनेक कविताएँ ऐसी लिखी हैं जो पारिवारिक प्रसंग मे है। परिवार में भोगे हुए दुःख-दर्द और उल्लास को मैंने व्यापक परिधि तक खींचने की कोशिश की है। अपने परिवार की संवेदनाओं के माध्यम से समाज के परिवारों की संवेदनाओं को छूने और स्पंदित करने की चेष्टा की है। 'सुबह की राह' और 'मेरे अबोध', 'ओ हवाओं', 'तुम बिन' आदि कविताएँ मेरी इस प्रवृत्ति की परिचायिका है।

यद्यपि शहरी संस्कारों के बुद्धिवादी कवि और विचारक गाँवों और प्रकृति के चित्रों की ओर रागात्मक भाव से देखने की प्रवृत्ति को पलायनवादी मानते हैं तो भी संस्कारों को क्या कहा जाय जो इन भले आचार्यों की सीख न मानकर गाँवों के चिरपरिचित दृश्यों, जीवन-छवियों, त्यौहारों आदि की ओर चले जाते हैं। हाँ, इसे स्वीकार करता हूँ कि गाँवों के इन दृश्यों और जीवन प्रसंगों तथा प्राकृतिक छवियों को देखने की नज़र और व्यक्त करने के ढंग में ताज़गी होनी चाहिए। दृष्टि और शैली का पिष्टपेषण इन दृश्यों को मलिन करने के

सिवा और कुछ नहीं करता। मैंने इस संदर्भ में अनेक कविताएँ लिखी हैं। इनमें से अधिकांश गीत हैं। तनहाइयाँ, चैत आया है, शरद आयी, बादल घेर घेर मत बरस, आदि अनेक कविताएँ उदाहरणस्वरूप ली जा सकती हैं।

(शिल्प के क्षेत्र में मैं नये बिम्बों, नये छन्दों, नयी कथन भंगिमा का पक्षपाती होकर भी दुस्साध्य प्राणायाम का समर्थक नहीं हूँ। मेरी कविताओं में कुछ लोगों को नवीनतम प्रयोगों की नुमायश न दीखे तो अच्छा ही है; क्योंकि नुमाइश दिखाना मेरा लक्ष्य कभी नहीं रहा। फिर भी मैं नयी अर्थमत्ता व्यक्त करने वाले, नये जीवन प्रसंगों को प्रस्तुत करने वाले, परिचित प्राचीन प्रसंगों और दृश्यों को नये संदर्भ में प्रस्तुत करने वाले शिल्पगत प्रयोगों को सदैव श्लाघ्य मानता हूँ।)

: १७ :

उत्तरदायित्वहीन आलोचना

समीक्षा की उपयोगिता असंदिग्ध है किन्तु हिन्दी में आज जिस प्रकार की उत्तरदायित्वहीन समीक्षाएँ आ रही है उन्हें देखकर समीक्षा के प्रति विरक्त हो उठना स्वाभाविक है। जो समीक्षा प्रकाश-स्तंभ का काम करने के बजाय साहित्य-यात्रियों को दिग्भ्रमित करे उसकी उपयोगिता निश्चय ही चुक गयी है। समीक्षा लिखने के लिए जिस अध्ययनशीलता, सूक्ष्म और नई सूझ-बूझ; परम्परा और प्रगति की सम्यक बोधशीलता और सवेदनशीलता की आवश्यकता होती है वह सब में नहीं होती। जिसमें ये विशेषताएँ होती हैं वही समीक्षा में कुछ नये अध्याय जोड़ पाता है। किन्तु आज साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ नहीं कर पाता वह समीक्षा लिखने बैठ जाता है, यह विडम्बना की स्थिति पैदा हो गयी है। यह सत्य है कि हिन्दी में आलोचना-योग्य प्रतिभाओं का अभाव नहीं है किन्तु वे प्रतिभाएँ अपना मुख्य उपयोग क्रियात्मक साहित्य रचने में कर रही हैं, जब कभी वे समीक्षा के लिए कलम उठाती हैं तो थोड़े में ही उतना दे जाती हैं जितना पोथा का पोथा रंगने पर भी पेशेवर आलोचक नहीं दे पाते। छायावादी काल से ही लेखकों को अपनी नवीन प्रवृत्तियों और शिल्पगत छवियों को स्पष्ट करना पड़ रहा है और गतानुगतिकता के स्वाद के अभ्यस्त आलोचकों की आवाज के विरुद्ध उन्हें अपनी नवता की सार्थकता सिद्ध करनी पड़ रही है। **कृतिकार सृष्टि की पीड़ा समझता है इसीलिए वह उस पीड़ा के प्रति ईमानदार बनने की कोशिश करता है। जो आलोचक कलाकार के समान ही संवेदनशील होते हैं, क्रियात्मक क्षमता से सम्पन्न होते हैं वे कला के आधारभूत तत्त्वों को ध्यान में रखकर मूल्यांकन करते हैं बाकी (जो कि बंजर होते हैं) यहाँ का पत्थर वहाँ का रोड़ा जोड़ कर भानुमती का कुनबा तैयार करते हैं या अपने पूर्वग्रहों से परिचालित होकर किसी कृति को विश्व में अनुपम और किसी को निकृष्टतम करार देते हैं।**

उत्तरदायित्वहीन आलोचनाएँ आज बाढ़ के पानी की तरह फैल रही हैं।

समीक्षामूलक यह उत्तरदायित्वहीनता कई रूपों में दिखाई पड़ती है। कुछ उत्तरदायित्वहीन आलोचनाएँ तथ्यात्मक भ्रांतियों पर आधारित होती हैं। आलोचक महोदय आलोच्य कृति को पढ़ने का कष्ट नहीं करते। उसके कुछ पन्ने उलट-पुलट कर अनुमान लगा लेते हैं कि इसमें ये बातें होनी चाहिएँ और ये नहीं होनी चाहिएँ। फिर लिख मारते हैं कि इसमें होना यह भी चाहिए था (जो कि उसमें मौजूद है) यह न होता तो अच्छा होता (जो कि वाकई उसमें नहीं है)। मूल कृति के बारे में वे कम कहते हैं अपने फ़तवे अधिक देते हैं। बड़े आदमियों द्वारा नये लेखकों की पुस्तकों की लिखी हुई भूमिकाएँ उठाकर देख लीजिए। आप पायेंगे कि उस महापुरुष ने मूल कृति को न पढ़कर उस पर अपनी चलती राय दे डाली है और पाँच पेज की भूमिका में पौने पाँच पेज तक उसने साहित्य के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपना माथा-कूट किया है। एक पाठक ने 'धर्मयुग' में एक पत्र लिखकर 'समालोचक' और 'युग-चेतना' में प्रकाशित बेपढ़ी समीक्षा का बड़ा मजेदार उदाहरण प्रस्तुत किया है। ऐसी ही कृपा मुझ पर भी एक समालोचक ने की थी जब कि उसने मेरी प्रारम्भिक कविताओं के आधार पर (मेरी नयी कविताओं को पढ़े-समझे बिना) मेरी नवीनतम प्रगति अप्रगति पर दो टूक राय देने का कष्ट किया था। ऐसे उदाहरण आज बहुत मिल सकते हैं।

कुछ उत्तरदायित्वहीन आलोचनाएँ ऐतिहासिक विकास के प्रति अज्ञानता से उद्भूत होती हैं। साहित्य के इतिहास की काल-सीमाओं और उनकी भेदक प्रवृत्तियों से सम्यक् रूप से परिचित न होने के कारण आलोचक लेखकों को मनमाने तौर पर विभिन्न स्कूलों में बाँट देते हैं। समर्थ आलोचकों द्वारा किए गए प्राचीन इतिहास के काल-विभाजनों को मानकर चलने में कोई खतरा नहीं रहता। रास्ते साफ हो चुके रहते हैं। किन्तु कठिनाई पैदा होती है नये साहित्य के प्रवृत्ति-विभाजन और मूल्यांकन में। प्राचीन साहित्य के अक्षय रस समुद्र में गोते लगाने वाले आलोचक नये साहित्य की सूखी तलैया की सतहों पर सिर क्यों घिसें? किन्तु आलोचक तो सर्वज्ञ होता है, इसलिए जब इन आलोचकों को नये साहित्य के संबंध में कुछ लिखना होता है या हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना होता है तो वे बड़े मजेदार तथ्य पेश करते हैं। कुंजीवादी आलोचकों की तो बात जाने दीजिए, शास्त्रीय परिपाटी का विपुल ज्ञान रखने

वाले शुद्ध पंडित समालोचक भी आज के नवीन वादों की भेदक प्रवृत्तियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले कृतिकारों को पहचानने में घपला पैदा कर देते हैं। रामबहोरी शुक्ल और भगीरथ मिश्र जैसे विद्वान समीक्षक जब इस प्रकार के भ्रामक निर्णय दे डालते हैं तो दुःख होता है। 'वसुधा' के सम्पादकीय ने इन दोनों लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास' में कल्पित कुछ भ्रामक निर्णयों की ओर संकेत किया है। 'माखनलाल अज्ञेय स्कूल के हैं, राहुल सांकृत्यायन और जानकीवल्लभ शास्त्री यशपाल स्कूल के हैं, पहाड़ी, अंचल, जैनेन्द्र स्कूल के है।' इस प्रकार की कल्पनाएँ उपर्युक्त पुस्तक में की गयी हैं। साहित्य के सामान्य विद्यार्थी भी जानते है कि माखनलाल अज्ञेय से बहुत आगे के हैं और दोनों की धाराओं में कोई सम्बन्ध नहीं है। राहुल जी अपने आप में एक स्कूल है, यशपाल के स्कूल के सहाध्यापक या विद्यार्थी नहीं। जानकीवल्लभ शास्त्री कवि हैं, यशपाल कथाकार, दोनों की प्रवृत्तियों में बहुत अंतर है। अंचल, पहाड़ी, कथाकार के रूप में प्रगतिशील हैं और जैनेन्द्र मूलतः मनोविश्लेषणवादी। हिन्दी के बहुत से तथाकथित आलोचक अज्ञेय और इलाचंद जोशी को प्रगतिशीलों के वर्ग में मान लेते हैं।

अनेक बार ऐसा भी होता है कि आलोचक आलोचना की सारी क्षमताओं से सम्पन्न होकर भी अपने पूर्वग्रहों से परिचालित होने के नाते न्यायपूर्ण मूल्यांकन नहीं कर पाता। पूर्वग्रह भी कई ढंग के होते हैं। कभी-कभी कोई कृतिकार चित्त पर ऐसा छा जाता है कि वही उस आलोचक की आलोचना का मानदण्ड बन जाता है और आलोचक अन्य कृतिकारों की विशेषताओं का उल्लेख करता हुआ भी जैसे यह कहता हुआ पाया जाता है—हाँ ठीक है लेकिन जैसा अमुक लेखक है वैसा यह नहीं है।

पूर्वग्रह वादों और व्यक्तिगत विवादों से भी बनते हैं। अमुक लेखक प्रगतिशील है तो जरूर खोटा है, अमुक प्रयोगशील है तो अवश्य ही अच्छा लिखता होगा। प्रयोगशील होना ही उसकी अच्छाई का प्रमाण है। आजकल वादों की दलबंदी की वजह से उत्तरदायित्वहीनता की सरगर्मी बढ़ गयी है। एक ओर कुछ पत्र और आलोचक प्रगतिशीलता के नाम पर सतही गीत लिखने वाले कवि-सम्मेलनी कवियों की पीठ ठोंकते हैं, उन्हें ही जन-जीवन के दुख दर्दों का गायक मानते हैं, और प्रकार की कविताओं की अच्छाइयों को सानसून कर

रख देते हैं (डा० रामविलास शर्मा और 'समालोचक' का लेखक मंडल नयी कविता के नाम से चिढ़ता नजर आता है और गलित कविताओं को जुटा-जुटा कर उन्हीं को नयी कविता की संज्ञा दे रहा है) दूसरी ओर अज्ञेय, भारती जैसे विचारशील आलोचक प्रगतिशील कविता ही नहीं, छायावादी कविता की भी सारी उपलब्धियों को तोड़ मरोड़ कर रखने की कोशिश में हैं—ये सारी कविताएँ पलायनवादी हैं—यथार्थ से दूर। इतना ही नहीं, दलों के भीतर भी दल बन गये हैं। नयी कविता का विश्वसनीय कारखाना अमुक नगर में ही है, बाकी शहरों के कारखाने नकली हैं। विशेष ढर्रे और तर्ज पर या छन्द के माध्यम से लिखी जाने वाली समाजवादी कविताएँ ही सही प्रगतिशील कविताएँ हैं बाकी तो यों ही हैं। डा० रामविलास शर्मा जैसे आलोचक ने प्रगतिशील दल के अन्य लेखकों को अपनी किसी पुस्तक में बूर्ज्वा प्रवृत्ति का माना है।

नये साहित्य के बारे में सही ढंग से आज के नये साहित्यकार ही सोच पा रहे हैं। कुछ ख्याति प्राप्त समीक्षक तो राष्ट्रीय और सांस्कृतिक तथा शास्त्रीय पदावली के जाल बिछाकर नये साहित्य के जल के मोती छानने बैठे हैं। उनके जाल के बड़े-बड़े छिद्रों से सारा पानी और मोती बह जाते हैं तो वे झल्लाकर नये साहित्य को निस्सार और निकम्मा कह बैठते हैं। नया साहित्यकार नये साहित्य के मर्मों से परिचित होकर भी प्रायः साहित्य लिखने में ही व्यस्त रहता है। जब कभी वह आलोचना करने बैठता भी है तो लगता है कि उसका अहं उसकी सारी शक्तियों पर हावी हो उठा है। वह भिन्न मान्यताओं वाले साहित्यकारों की उपेक्षा करने लगता है, छद्म नामों से पत्र-पत्रिकाओं में पत्र लिखकर तथा मासिक साहित्य की आलोचनाएँ लिख कर अपनी और अपने मित्रों की प्रशंसाएँ करता है, कभी-कभी उत्तरदायित्वपूर्ण निबंधों में भी साहित्य के अन्य महारथियों की उपेक्षाकर स्वयं ही साहित्य-गंगा का भगीरथ बन जाता है। न्याय की घोषणाओं के साथ नयी-नयी पत्र-पत्रिकाएँ निकाली जाती हैं और अन्ततोगत्वा उनकी परिणति पूर्वग्रहों के उद्घोष में हो जाती है। कभी-कभी प्रतिक्रिया में एक ही पुस्तक के बारे में ऐसी-ऐसी विरोधी रायें व्यक्त की जाती हैं कि उस पुस्तक की सही उपलब्धियाँ स्पष्ट नहीं हो पातीं। 'मैला आँचल' के सम्बन्ध में संतुलित विचार व्यक्त करने के स्थान पर आलोचकों ने आवेगपूर्ण अत्युक्तियों से काम लिया। प्रगतिशील और प्रयोग-

शील दोनों वर्गों ने अपनी-अपनी प्रशंसाओं से मानों लेखक को पैट्रनाइज करना चाहा। जब 'परती परिकथा' प्रकाशित हुई तो मानों 'मैला आँचल' की बहु प्रशंसा की प्रतिक्रिया में ही एक खामोशी छा गयी। कुछ आलोचनाएँ आयीं भी तो एक ने उसे विश्व के उत्कृष्टतम साहित्य के स्तर पर रखा—दूसरे ने उसे निकृष्टतम स्तर पर ढकेल दिया। इतना ही नहीं, गुजराती के एक यशस्वी साहित्यकार ने जब एक निबंध में भाषा के प्रसंग में 'मैला आँचल' का नाम लिया तो उनके पास पत्र लिखकर हिन्दी के कुछ नये साहित्यकारों ने सूचित किया कि रेणु तो बहुत सामान्य कोटि का कलाकार है उसका नाम क्यों लिया गया निबंध में ?

(इस धींगाधींगी से आलोचना के उबरने की आवश्यकता है। सृजन की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर साहित्य के बुनियादी तत्त्वों पर विचार करने की सबसे अधिक जरूरत है। वादों से घबराने की कोई बात नहीं, सच्चा साहित्य-रसज्ञ तो किसी भी बहाने सुन्दर साहित्य की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है। सच्चे सहृदय की भाँति वादों के ऊपरी कवच को भेद कर उसके आंतरिक रस और सौन्दर्य को ही संचित करने की चेष्टा होनी चाहिए। सभी वाद साहित्य के लिए कुछ नवीन उपलब्धियाँ लेकर आते हैं और कुछ उनकी सीमाएँ भी होती हैं।)

———

: १८ :

राष्ट्रीय काव्य

राष्ट्रीयता शब्द आधुनिक अर्थ में एक दम नया है। राष्ट्रीयता का तात्पर्य एक सहज भौगोलिक सीमा के अंतर्गत निवास करने वाली जनता की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक चेतना की एकता से है। राष्ट्रीयता एक भावना है जो एक देश की जनता को परस्पर आबद्ध करती है। राष्ट्रीयता का उदय यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् संसार में स्वतन्त्रता की लहर उत्पन्न हुई और स्वतन्त्रता की लहर के साथ राष्ट्रीय भावना विकसित होती गई।

राष्ट्रीयता की भावना ने परिस्थितियों के अनुकूल मंगलकारी और अमंगलकारी दोनों प्रकार के विविध रूपों को जन्म दिया। राष्ट्रीय भावना ने पराधीन देशों में स्वतन्त्रता की चेतना पैदा की, उनकी पराजय, अवसाद और हतगौरव के बिखरे स्वरों को सामूहिकता की शक्ति देकर संगठित किया और उनकी निष्क्रियता और असहायता को सामूहिक आन्दोलन और समर्थता के रूप में बदल दिया। इस प्रकार प्रत्येक छोटा-बड़ा पराधीन प्रताड़ित देश अपने भाग्यनिर्माण और अधिकाधिक सुख-सृष्टि के लिये सक्रिय हो उठा। उसने अपने अतीत की सांस्कृतिक विरासत को (जो शासक देश की अमानवीय नीतियों द्वारा अंधकार में छिपा दी गई थी) पहचाना। अपने वर्तमान की पीड़ाओं और छिपी हुई शक्तियों तथा भविष्य की महती संभावनाओं को देखा। इन देशों के साहित्यों ने प्रमुखतः इन्हीं आंदोलनों को स्वर दिया। स्वतन्त्र राष्ट्रों की राष्ट्रीयता के दो रूप स्पष्ट हुए। ऐसे देशों को किसी अन्य देश से लड़ाई नहीं करनी पड़ी अर्थात् उन्हें स्वतन्त्र होने के लिये आन्दोलन नहीं करने पड़े। ऐसे देशों में राष्ट्रीयता सामाजिक संगठन कर उस देश का बहुमुखी विकास करती है। वह देश राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत नागरिकों की सामूहिक शक्ति लेकर अपना उत्थान करता है और मार्ग में बाधा प्रस्तुत करने वाले अन्य राष्ट्रों का सामना करने के लिये तत्पर रहता है। इस प्रकार

इनमें दोनों प्रकार की परिस्थितियों में विकसित राष्ट्रीयता उच्चकोटि की है। यह राष्ट्रीयता नागरिकों में त्याग और बलिदान का भाव भरती है और निरन्तर अपने को एक महत्तर समुदाय का अंग मान लेने की निस्वार्थ भावना उनमें जाग्रत करती है। ऐसी राष्ट्रीयता शुद्ध होती है। ऐसी शुद्ध राष्ट्रीयता के वातावरण में पले देश के नागरिक एक ओर आक्रमण करने वालों का विरोध करने को तैयार रहते हैं, दूसरी ओर वे अन्य राष्ट्रों की राष्ट्रीयता की कद्र करते हैं और उनसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। स्वतन्त्र राष्ट्रों की राष्ट्रीयता का एक पक्ष और है, जो कि कुरूप पक्ष है। उग्र राष्ट्रीयतावादी देश अपने देश के स्वार्थ-साधन के लिये अन्य देशों को कुचलना चाहते हैं, उन्हें अपना उपनिवेश बनाना चाहते हैं। उनको वे कच्चे माल की मंडी बना कर उनका आर्थिक शोषण करते हैं और उनकी सांस्कृतिक निधियों को विकृत रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। अर्थात् उन्हें सभी प्रकार से दीन, हीन और अभाग्य पीड़ित सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अमेरिका और यूरोप के अनेक पूँजीवादी राष्ट्रों—जैसे इंग्लैंड, फ्रांस आदि ने इसी प्रकार की दूषित राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर एशिया, अफ्रीका आदि में उपनिवेश कायम किये। साम्राज्यवादी नीति ने विश्व में कितने अमानवीय कृत्य किये (और करती जा रही है) किसी से छिपा नहीं है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता सर्वथा गर्हित और घृणायोग्य है।

आगे प्रश्न आता है राष्ट्रवादिता और इसके विविध रूपों का। कहा जाता है कि कविता का सम्बन्ध अपने परिपार्श्व से होता है। (परिपार्श्व शब्द को मैं बहुत व्यापक अर्थ में ले रहा हूँ) इसलिए देश में राष्ट्रीयता का जैसा रूप होगा वैसी ही राष्ट्रीय कविता होगी। मेरे निबन्ध का क्षेत्र हिन्दी राष्ट्रीय कविता है इसलिए मैं इसी सीमा में विचार करूँगा।

भारतवर्ष में जब राष्ट्रीय चेतना की लहर उठी तब वह पराधीन था। भारतेन्दु काल में काँग्रेस के रूप में राजनैतिक और आर्य समाज, ब्रह्मसमाज आदि संस्थाओं के रूप में सामाजिक आन्दोलनों ने राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का कार्य शुरू किया। द्विवेदी काल में इन आन्दोलनों को अधिकाधिक शक्ति मिली। १९२० के पश्चात गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय चेतना का महाज्वार सम्पूर्ण भारत में लहरा उठा। सारा देश विशाल समुद्र की भाँति अपनी अनंत

लहरों को एक स्पन्दन में पिरोकर स्वतन्त्रता के लिये तड़प उठा। कालान्तर में हिन्दू-मुस्लिम विभेद की समस्या उठ खड़ी हुई। इसे सुलझाने के लिये अनेक महापुरुषों को बड़े महँगे मूल्य चुकाने पड़े। भारत स्वतन्त्र हुआ और स्वतन्त्र भारत की अपनी समस्याएँ उद्भूत हुईं। इन आन्दोलनों और नये नये मोड़ो ने काव्य को अपने अपने ढंग से प्रभावित किया। देश में जो समस्याएँ उठ खड़ी हुईं इनके लिए काव्य ने अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत किया या कम से कम उन समस्यायों को लोगों के सामने उभार कर रखा। इन अनेक प्रकार की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से सम्बन्धित कविताओं को देखकर यह जाना जा सकता है कि राष्ट्रीय कविता का कोई बँधा बँधाया स्वरूप नहीं है।

उसका कोई एक ही क्षेत्र नहीं है। राष्ट्रीय शब्द (कम से कम साहित्य के क्षेत्र में) बहुत व्यापक अर्थ-बोधक है। वे सभी राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक, नैतिक आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना के अंतर्गत आते हैं जो राष्ट्रीय हित में हों, और उन्हें मुखर करने वाली कविताएँ राष्ट्रीय कविता कही जाती हैं किन्तु राष्ट्रीयता का क्षेत्र और अधिक व्यापक है। हर एक देश की कुछ अपनी परम्पराएँ होती हैं। वे परम्पराएँ उस देश की जीवन्त शक्तियों और स्वस्थ सामूहिक जीवन व्यापारों द्वारा निर्मित होती हैं। वे परम्पराएँ उस देश की पिछली पीढ़ियों के स्वस्थ चिन्तन, मनन, युग और समाज के अनुरूप निर्मित होती चलने वाली नैतिकताओं, सामूहिक हर्ष-विषादों का पुंजीभूत रूप होती हैं। उनमें उस देश की मिट्टी का रस रहता है, उसकी हवा की गंध रहती है अतएव परम्पराओं की रक्षा करना राष्ट्रीय चेतना की और राष्ट्रीय कविता की एक आवश्यक शर्त है। परम्परा का तात्पर्य रूढ़ि नहीं है। परम्परा सदैव विकासशील होती है। देश का जन-जीवन और उसका उच्चतम विकास ही उसका लक्ष्य होता है। इसलिए परम्पराएँ सदैव नये युग और समाज के अनुरूप नया मोड़ लेती चलती हैं और प्राचीन के उन तत्त्वों को छोड़ती चलती हैं जो नये जीवन के मेल में नहीं बैठते। ये परम्पराएँ नवीन तत्त्वों को ग्रहण करती चलती हैं। अर्थात् स्वस्थ परम्पराएँ सदैव प्रगतिशील होती हैं।

स्वस्थ परम्पराओं को आधार मान कर अपने समाज की वर्तमान जीवन दशा का चित्र खींचना भी राष्ट्रीयता है। आन्दोलन तो सदैव नहीं रहते किन्तु जनता और उसका जीवन सदैव रहता है। अपने देश की जनता के जीव

के विविध पक्षों को गहरी सहानुभूति और आस्था के साथ चित्रित करना राष्ट्रीयता है। इन दिनों आलोचना तो आलोचना रचना के क्षेत्र में भी विदेशी वादों और दृष्टिकोणों को आधार बना कर सृष्टि की जा रही है। यह प्रवृत्ति राष्ट्र और साहित्य दोनों के हित में घातक है। कविता का सम्बन्ध अनुभूति से होता है और उसका लक्ष्य समाज-हित होता है। अनुभूति विदेशी वादों का अंधानुकरण करने से नहीं, अपने देश की परिचित जनता के जीवन के रागात्मक अध्ययन से प्राप्त हो सकती है और इसी प्रकार की अनुभूति को स्वर देने से सामाजिक हित भी सम्भव है। जिस कवि का अपने देश की जनता के जीवन के अन्तर्वाह्य पक्षों का जितना ही व्यापक और गहरा अध्ययन होगा उसकी संवेदनाएँ उतनी ही अधिक विराट होंगी और उसकी कविता उतनी ही अधिक उच्चकोटि की राष्ट्रीय होगी। व्यापक और गहरी अनुभूति के साथ साथ कवि की दृष्टि भी मानवीय मंगल की भावना से ओत-प्रोत होनी चाहिये। कवि अपने समाज के किसी महान नेता को लेकर एक ऐसा प्रबन्ध काव्य लिख सकता है जिसमें राष्ट्र के वर्तमान युग की सारी चेतना एक साथ झंकृत हो उठे या वह फुटकल कविताओं में खण्ड खण्ड चेतना को व्यक्त कर सकता है, जिसमें किसी बड़े नेता की चर्चा न होकर अति सामान्य जनों के जीवन का रूप चित्रित हो। 'सामान्य जीवन' शब्द अधिक व्यापक है। इसकी सीमा में जीवन और उसके समस्त परिवेश आ जाते हैं।

भारतीय जीवन प्राकृतिक सौन्दर्य के परिवेश में लिपटा हुआ है। यह प्राकृतिक सौन्दर्य भी दो तरह का है—एक तो गाँवों के जीवन से सम्बन्धित प्राकृतिक सौन्दर्य, जैसे खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, ताल-तलैया, फूल-पौधे आदि जो कि ग्रामीण जीवन के साथ चित्रित होते रहते हैं, दूसरे वन्य, पार्वतीय या ऋतुगत सौन्दर्य जो अपने आप में पूर्ण हैं। किसी देश की प्राकृतिक सुषमा का स्वतन्त्र चित्रण करना भी राष्ट्रीय कविता के अन्तर्गत आता है। जैसे कोई भारतीय कवि यदि हिमालय, विन्ध्य आदि पहाड़ों गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा या अपने आस पास की अन्य नदियों, वनों, कमल आदि फूल; कोयल, पपीहा, हंस आदि पक्षियों; वसन्त पावस आदि षट-ऋतुओं की सुषमा का चित्र खींचे तो वह राष्ट्रीय कविता की कोटि में ही परिगणित होगी।

राष्ट्रीय कविता और तरह की भी हो सकती है; यद्यपि वह बड़ी हीन कोटि

की है। मान लीजिए किसी देश ने अपना उपनिवेश कायम कर लिया है। पराधीन देश की जनता उपनिवेशवाद को अपने कन्धे से उतार फेंकने के लिए आन्दोलन करती है। प्रतिक्रिया में देश के कवि अपने राजनैतिक नेताओं के साथ उपनिवेशवाद को बनाये रखने की आवाज ऊँची करते हैं जिससे वे अपने देश की जनता और शासकों को पराधीन देश की जनता को कुचल देने के लिए बढ़ावा देते हैं। ऐसी कविताएँ उग्र राष्ट्रीय होकर अमानवीय हो उठेंगी और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुख के मार्ग में व्यवधान बन जायँगी इसलिए ये हीन कोटि की राष्ट्रीय कविताएँ हैं। यद्यपि व्यवहार में देखा गया है कि बड़े कवि सदैव बड़ी संवेदना से प्रेरित होते हैं, वे इस तरह के अमानवीय स्तर पर नहीं उतरते। इसी राष्ट्रीय कविता से मिलती-जुलती साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता से प्रेरित कविता है। अपने देश को जातीयता के आधार पर बड़ा समझकर अन्य राष्ट्रों को छोटा समझना हीन भावना है। एक ही देश में विभिन्न सम्प्रदायों का अपने को राष्ट्रीय समझकर दूसरों को हीन समझ बैठना भी गर्हित प्रवृत्ति है। जर्मनी ने अपने को आर्य और शेष जगत को अनार्य समझकर सब पर अधिकार करने का स्वप्न देखा। परिणाम विश्वविदित हैं। इसी प्रकार कई मुसलमान राष्ट्र अपने को औरों की अपेक्षा 'पाक' जाति का मानकर राष्ट्रीयता का दम भरते हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा इस संकीर्ण साम्प्रदायिकता का भयंकर परिणाम है। इन आधारों पर कविताएँ भी लिखी गई हैं किन्तु उन्हें राष्ट्रीय कविता या सिर्फ कविता का नाम भी नहीं देना चाहिए।

इस प्रकार वर्ण्य विषय के भेद के कारण राष्ट्रीय कविता के कई रूप लक्षित होते हैं। ऊपर विवेचित विभिन्न स्वरूपों को ये नाम दे सकते हैं—

१. राजनैतिक आन्दोलन सम्बन्धी कविता—ऊपरी तौर पर राजनैतिक आन्दोलनों को स्वर देने वाली कविताओं को ही हम राष्ट्रीय कविता समझ बैठते हैं। यह शायद इसलिए कि राजनैतिक आन्दोलनों में राष्ट्रीय जागरण का स्वर बड़ा स्पष्ट और उग्र होता है। उसकी लहर सामयिक होने से बड़ी ही वेगवान होती है। राजनैतिक आन्दोलनों में देश की स्थूल आवश्यकताओं, अभावों, आकांक्षाओं और पीड़ाओं की तीव्र चेतना होती है। हर छोटे-बड़े की दृष्टि में आर्थिक और राजनैतिक पुनर्निर्माण का स्वप्न भरा होता है। इस क्षेत्र

में स्पष्ट संघर्ष, कोलाहल और आत्माहुतियों का वेग होता है। शहीदों की कुर्बानियाँ जनता में अपूर्व आवेश का संचार करती हैं। इन आन्दोलनों को आलम्बन मान कर लिखी गई कविताओं का स्वर विषयानुकूल ही उग्र और तात्कालिक होता है। ये कविताएँ देश की गरीबी, अभाव, शक्ति, जन-संघर्ष और प्रमुख शहीदों तथा नेताओं को अपना वर्ण्य विषय बनाती हैं। भारतेन्दु काल की तथा सन् ४२ के आस-पास की अनेक कविताओं में यह राजनैतिक आन्दोलन मुखर है। इनमें देश की गरीबी और जन-संघर्ष की चेतना तो है ही, साथ ही साथ (४२ के आस-पास की कविताओं में) गांधी, जवाहर, सुभाष, भगतसिंह आदि महापुरुषों को नायक बनाया गया है—

महँगी और टिकस के मारे हमहि क्षुधा पीड़ित तन छाम
साग पात मो मिले न जिय भरि लेवो वृथा दूध को नाम
तुमहिं कहा प्यावैं जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अलक उपमा लहि नाग देवता तृप्यंताम्।

—प्रतापनारायण मिश्र

सिंह की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान

—निराला

२. **सामाजिक आन्दोलन सम्बन्धी कविताएँ**—सामाजिक आन्दोलन संबंधी कविताएँ भी राष्ट्रीय कविताओं के अन्तर्गत आती हैं। समाज में खराबियाँ आ गई हैं। सामाजिक नेता लोग इन खराबियों और इनके कुपरिणामों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये खराबियाँ दो कारणों से आ सकती हैं। एक तो प्राचीन जर्जर रूढ़ियों के अन्धानुकरण से, दूसरे विदेशी प्रभावों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेने से। पुराने रूढ़ धर्म, नैतिक मान्यताएँ, सामाजिक आचार-विचार, जर्जर प्रथाएँ समाज को जकड़े हुए हैं। समाज नये युग के वातावरण में सांस नहीं ले पा रहा है अतः उसकी गति कुण्ठित है। उसमें सड़ांध आ गई है। उसमें वाह्याचार घर कर गये हैं। छुआछूत, जाति-पाँति, धार्मिक-साम्प्रदायिक विभेद, पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा, विधवा और वेश्या-प्रथा आदि अनेक समस्याएँ सामाजिक जीवन में उभरी हुई हैं। ये समस्याएँ मध्य-

काल की विकृत प्रथाओं के परिणाम हैं। हिन्दू-मुस्लिम समस्या भी एक भयावह समस्या है। भारतीय समाज में समय-समय पर अनेक महापुरुष इन सामाजिक विषमताओं को मिटाने के लिए आन्दोलन करते रहे हैं। भारतेन्दु काल में अंग्रेजी सभ्यता से भारतीय सभ्यता का सम्पर्क हुआ। कुछ लोग अंग्रेजी सभ्यता की धारा में स्वच्छन्दता से बहने लगे। उन्हें भारतीय परम्परा का जरा भी ध्यान नहीं रहा।' भारतीय समाज सुधारकों के सामने उस समय दुहरी समस्याएँ थीं।

एक ओर भारतीय समाज में घर कर चुकी विकृत प्रथाएँ और रूढ़ियाँ थीं, दूसरी ओर अंग्रेजी फैशन के प्रवाह में अन्धाधुन्ध गोते लगाते हुए परम्परा-विहीन लोग थे। भारतीय समाज सुधारकों ने पाश्चात्य सभ्यता के स्वस्थ तत्त्वों को अपनाना अवश्य चाहा किन्तु भारतीय आधार पर। इसलिये दयानन्द सरस्वती ने (जो अपने काल के सबसे बड़े सुधारक थे) वेदों की नवीन व्याख्या की और नव युगोचित-तत्त्वों और आकांक्षाओं को परख कर उनके ग्रहण का आग्रह किया। उन्होंने मध्यकालीन विकृतियों और प्रथाओं का घोर विरोध किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि हमारी वैदिक सभ्यता का मूल स्वर इतना सशक्त, गतिशील और महान है कि वह आज भी हमारे समस्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। ये अन्ध परम्पराएँ और अंग्रेजी फैशन की दासता दोनों हेय हैं। यह युग भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पुनरुत्थान का युग है। भारत का अतीत गौरवपूर्ण है। इसके प्रांगण में अनेक महापुरुष जन्म ले चुके हैं, अनेक उच्चतम ग्रंथ निर्मित हो चुके हैं, मानव जीवन के विविध सौन्दर्यों और उच्चतम सत्यों की अभिव्यक्ति हो चुकी है। अतएव उस स्वर्ण अतीत को अपना आदर्श बनाओ, उन महापुरुषों के आचरणों का स्मरण करो। भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल की सामाजिक कविता में आपको यही स्वर मिलेगा। गुप्त जी की 'भारत भारती' इस ढंग की प्रतिनिधि रचना है। उस काल की ऐसी कविताओं के नायक पौराणिक और ऐतिहासिक ख्याति के उदात्त चरित्र ही हैं। किन्तु समाज की इन विषमताओं का समाधान सदैव एक सा नहीं रहता। द्विवेदी युग के पश्चात् समाधान का स्वरूप अधिक वैज्ञानिक और युगानुरूप होता गया और होता जा रहा है। भक्तिकालीन समाज-सुधार और आज के समाज-सुधार की भावना में पर्याप्त अन्तर आ गया है—

सब मनुष्य जहाँ मतिमान थे
सब निरोग तथा बलवान थे
सब जितेन्द्रिय सज्जन थे जहाँ
अब हरे ! वह भारत है कहाँ ?
सुगुण शीलवती कुल-कामिनी
निपुण थी सब सत्पथगामिनी
तनिक भी कुविचार न था जहाँ
अब हरे ! वह भारत है कहाँ ?
जगत ने जिसके पद थे छुए
सकल देश ऋणी जिसके हुए
ललित लाभ कला सब थी जहाँ
अब हरे ! वह भारत हैं कहाँ ?

—मैथिलीशरण गुप्त

३. सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन सम्बन्धी कविताएँ—इस प्रकार की कविता की विवेचना ऊपर विस्तार से हो चुकी है। इस प्रकार की कविताएँ ही वास्तव में उच्चकोटि की कविताएँ होती है और उनमें स्वदेश की चिरन्तन आत्मा बोलती है। इनमें आन्दोलनों का उग्र और अस्थायी उपदेशात्मक स्वर नहीं होता है बल्कि उस देश की समूची सांस्कृतिक परम्पराओं और सामाजिक जीवन व्यापारों का कलात्मक चित्र होता है जो एक ओर उस राष्ट्र की अपनी विशेषताओं को औरों की तुलना में स्पष्ट करता है और दूसरी ओर उदात्त मानवीय संवेदनाओं की व्यापक भूमि पर समस्त मानवता को निर्विरोध रूप से एक साथ प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से किसी देश का हर बड़ा कवि (जिस में सामाजिक संवेदनाएँ अपार मात्रा में हैं) राष्ट्रीय कवि होता है और मैं समझता हूँ कि इस अर्थ में राष्ट्रीयता की सीमा आदि काल से लेकर आज तक फैली हुई है और भविष्य में भी फैलती जायगी। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के ये वाक्य कितने मूल्यवान हैं—

> "किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठा कर भी वहाँ से जाना नहीं चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे स्थान का पूरा लोभ है। जन्म-भूमि का प्रेम,

स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश का प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है, तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुलाब, पेड़, पत्ते, बन-पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में भी आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, या यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिये कि भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल जाते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हितचिन्तन और हितसाधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है। उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है, जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता।"

इस दृष्टि से बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, कबीर, भारतेन्दु, रवीन्द्र, प्रसाद, पंत, निराला आदि अनेक कवि उच्चकोटि के राष्ट्र कवि हैं। नई पीढ़ी में भी सामाजिक संवेदनशील कवि राष्ट्रीय कवि हैं। आज राष्ट्रीय कवि कहलाने का शौक बहुतों को हो गया है। वे राजनैतिक आन्दोलनों को स्पष्ट रूप से पद्यबद्ध कर देने मात्र से अपने को राष्ट्रकवि

कहलाने का दम भरते हैं। मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त विश्लेषण इसका निर्णय देने के लिए सर्वोत्तम मान-दण्ड है। इससे बहुत कच्चे राष्ट्र-कवियों का स्वप्न भंग हो सकता है।

४. **प्राकृतिक दृश्यों सम्बन्धी कविताएँ**—इसका भी विवेचन ऊपर हो चुका है। कहा जा चुका है कि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण सामाजिक जीवन के परिवेश के रूप में भी होता है और स्वतन्त्र रूप में भी। बहुत से कवि ऐसे होते हैं जो स्वतन्त्र रूप से अपने देश की प्राकृतिक छवियों का चित्रण करते हैं। इस कोटि की कविताएँ कलात्मक दृष्टि से ऊँची हो सकती हैं (और होती हैं) उनमें स्वदेश की मिट्टी के प्रति ममता ध्वनित होती है, गौरव भी उनमें मुखर होता है, किन्तु वे सामाजिक जीवन की संवेदनाओं के अभाव में विराट नहीं हो पाती हैं।

५. **उग्र राष्ट्रीयतावादी कविताएँ**—इनमें अपने देश के हित के आवेश में अन्य राष्ट्रों के प्रति अमानवीय स्वर होता है। उपनिवेशवाद, सम्प्रदायवाद आदि इसके मूल कारण होते हैं (इनका भी ऊपर विचार हो चुका है)। भारत में उपनिवेशवाद से सम्बन्धित ऐसी राष्ट्रीय कविताओं की संभावना ही नहीं हो सकती। भारत अन्य देशों के चंगुल में रहा है। वह अपनी ही स्वतन्त्रता के लिये युद्ध करता रहा है। आज स्वतन्त्र हो जाने पर वह उपनिवेशवाद का कट्टर विरोधी और विश्व-शांति का पक्षपाती है। इसकी राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है।